इकाई–1 – योग का अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य एवं महत्व

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 योग का अर्थ

1.4 परिभाषायें

1.5 योग का उद्देश्य

1.6 योग का महत्व

- 1.6.1 शारीरिक महत्व
- 1.6.2 मानसिक महत्व
- 1.6.3 आध्यात्मिक महत्व
- 1.6.4 पारिवारिक महत्व
- 1.6.5 सामाजिक महत्व
- 1.6.6 आर्थिक महत्व
- 1.6.7 नैतिक महत्व
- 1.6.8 शैक्षणिक महत्व

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों, वर्तमान समय में हम सभी ''योग'' शब्द से भली भॉति परिचित हैं। चाहे बच्चा हो, जवान हो, वृद्ध हो, स्त्री हो, पुरूष हो, हर उम्र का व्यक्ति अपने अनुसार योग शब्द से कुछ ना कुछ अर्थ ग्रहण करता है। क्योंकि योग के महत्व इसके उपयोग से किसी ना किसी रूप में इन्कार नहीं किया जा सकता है, योग को हम सच्चे अर्थो में अपने जीवन में ग्रहण कर व्यवहारिक दृष्टि से इसे अपने लिए उपयोगी बना सके। इसके लिए बहुत ही आवश्यक है कि इसके सही अर्थ को जाने समझें। बिना इसके हम योग का जो उद्देश्य है उसे पूरा नहीं कर सकते है।

अतः जिज्ञासु पाठको, प्रस्तुत इकाई में हमारे अध्ययन का विषय है – योग का अर्थ, परिभाषा, उद्धेश्य एवं महत्व को जानना। विद्यार्थियो यदि हम योग शब्द को गहराई से जानने समझने, अनुभव करने का प्रयत्न करें तो हम पायेंगे कि कोई व्यक्ति अपने प्रति पुरी तरह सजग होकर अपने चित्त में संचित जन्म जन्मान्तर के जो कर्म संस्कार अर्थात् पाप – पुण्य के रुप में अब तक के जन्मों में जो भी कर्म हुए है, उन सभी कर्मों का क्षय करके, भोग करके जब अपने आत्म स्वरुप में स्थिर हो जाता है, अर्थात् उसे यह बोध हो जाता है कि मैं पंचमहाभूतों से बना यह नष्ट होने वाला शरीर नहीं हूॅ, अपितु परमात्मा का अभिन्न अंश आत्मा हूॅ। इसे ही सच्चे अर्थों में योग कहा जाता है। इसी योग को योगियों ने आचार्यों ने अलग – अलग ढ़ग से समझाने का प्रयास किया है।

विद्यार्थियो, आपके मन में विभिन्न प्रकार की जिज्ञासायें उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

जैसे कि –

- इस योग शब्द की उत्पत्ति किस प्रकार से हुयी ?
- इसे किस ढ़ग से परिभाषित किया गया है ?
- क्या योग का आघ्यात्मिक महत्व ही है, या इसे हम अपनी दिन प्रतिदिन की जिन्दगी में भी अपना सकते है ?
- योग विद्या के प्रेणता कौन है? अर्थात् सर्वप्रथम किसके द्वारा इसका प्रतिपादन किया गया। इत्यादि आपकी इन्ही जिज्ञासाओं के समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है –

तो आइये सबसे पहले हम योग क्या है ? इस विषय पर चर्चा करते है –

1.2 उद्देश्य

प्रिय पाठको प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- योग के अर्थ को भली भॉति स्पष्ट कर सकेगे।
- योग विद्या के उद्धेश्य को स्पष्ट कर सकेगे।
- योग की विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण कर सकेगे।
- व्यवहारिक जीवन में योग का क्या महत्व है ? इसका अध्ययन कर सकेगे।

1.3 योग का अर्थ

विद्यार्थियो योग शब्द पर विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है, कि योग शब्द संस्कृत के 'युज' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है, जोड़ना अर्थात् किसी भी वस्तु से अपने को जोड़ना या किसी कार्य में स्वयं को लगाना। पाणिनिगण पाठ का विस्तृत अध्ययन करें तो उसमें तीन 'युज' धातु हैं।

(क) युज समाधौ–दिवादिगणीय,

(ख) युजिर योगे–रुधादिगणीय,

(ग) युजसंयमने–चुरादिगणीय,

(क) – युज समाधौ – दिवादिगणीय – दिवादीगणीय युज धातु का अर्थ है, समाधि । समाधि का प्रकृति प्रत्यय अर्थ है, सम्यक स्थापन। अर्थात् जब प्रगाढ़ संयोग सुषुम्ना में स्थिर ब्रह्ममनाड़ी से होता है। वह स्थिती समाधि की होती है। दूसरे अर्थ में युज समाधौ का अर्थ है – समाधि की सिद्धि के लिए जुड़ना। या समाधि की प्राप्ति के लिए जो भी साधनायें शास्त्रों में बताई गयी हैं, उन साधनाओ को अपने जीवन में अपनाना, ही योग का पहला अर्थ है।

(ख) – युजिर योगे–रुधादिगणीय – रुधादिगणीय युज धातु का अर्थ है, जुड़ना, जोडना, मिलना, मेल करना। युजिर योगे का अर्थ है, संयोग करना। अर्थात् इस दुःख रुप संसार से वियोग तथा ईश्वर से संयोग का नाम ही योग है। जिसका वर्णन श्रीमदभगवद्गीता में इस प्रकार किया गया है –

'तं विद्याद् दुःख संयोग वियोग योग संज्ञितम्।'

– गीता 6/23

अर्थात् इस दुख रुप संसार के संयोग से रहित होने का नाम ही योग है। वह साधन जिसके द्वारा परमात्मा के साथ ज्ञानपूर्वक संयोग है, जीवात्मा का। इस प्रकार योग का अर्थ जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग हैं।

(ग) – युजसंयमने–चुरादिगणीय – चुरादिगणीय युज् धातु का अर्थ है, संयमन् अर्थात मन का संयम या मन का नियमन। इस प्रकार युज् संयमने का अर्थ है, मन का नियमन करना ही योग है। मन को संयमित करना ही योग है, तथा यह मन को नियन्त्रित करने की विद्या योग ही है। इस प्रकार योग का अर्थ – योग साधनाओं को अपनाते हुए मन को नियन्त्रित कर, संयमित कर, आत्मा का परमात्मा से मिलन ही योग है।

1.4 योग की परिभाषाएँ

भारतीय दर्शन में योग विद्या का महत्वपूर्ण स्थान है। यह विद्या सभी विद्याओं से सर्वोपरि व विशेष स्थान रखती है। योग विद्या से सम्वन्धित ज्ञान सभी भारतीय ग्रन्थो में अनेक स्थानो पर देखने को मिलता है। वेद, पुराण, उपनिषद, श्रीमद्भगवद् गीता आदि प्राचीन ग्रन्थों में योग विद्या विद्यमान है। प्रिय विद्यार्थियों प्राचीन ग्रन्थों में योग विद्या को किस प्रकार परिभाषित किया गया है । आइये इसका हम अध्ययन करें –

योग सूत्र के प्रेणता महर्षि पतंजलि ने योग की निम्न परिभाषा दी है –

'योगश्चितवृत्तिनिरोधः।'

– पा0 यो0 सूत्र 1/2

अर्थात् चित्त की वृत्तियो का सर्वथा अभाव ही योग है। चित्त का तात्पर्य यहॉ अन्तःकरण से है। ज्ञानेन्द्रियो द्वारा जब विषयो को ग्रहण किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियो द्वारा अर्जित ज्ञान को मन आत्मा तक पहुॅचाता हैं। आत्मा उसे साक्षी भाव से देखता है, वुद्धि व अहंकार विषय का निश्चय करके उसमें कर्तव्य भाव लाते है। इस सम्पूर्ण क्रिया में चित्त में जो प्रतिबिम्व बनता है, वही वृत्ति कहलाती है। चित्त हमारा दर्पण की भॉति होता है। अतः विषय उसमें आकर प्रतिविबिम्व होता है। अर्थात् चित्त विषयाकार हो जाता है। इस चित्त को विषयाकार होने से रोकना ही योग है।

महर्षि व्यास के अनुसार योग –

'योग समाधिः'।

महर्षि व्यास ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है, योग नाम समाधि का है। जिसका भाव यह है कि समाधि द्वारा जीवात्मा उस सत्–चित्–आनन्द स्वरुप ब्रहम का साक्षात्कार करे और यही योग है।

पण्डित श्री राम शर्मा आचार्य जी के अनुसार – 'जीवन जीने की कला ही योग है।'

मनुस्मृति के अनुसार –

'ध्यान योगेन सम्यश्यदगतिस्यान्तरामनः।' – मनुस्मृति 16/731

ध्यान योग से भी योग आत्मा को जाना जा सकता है। अतः योगपरायण ध्यान होना चाहिए।

कठोपनिषद के अनुसार – जब चेतना निश्चेष्ठ मन शान्त, बुद्धि स्थिर हो जाती है, ज्ञानी इस स्थिति को सर्वोच्च स्थिति मानते है। चेतना और मन के दृढ निश्चय को ही योग कहते है।

यदा पंचावतिष्ठनते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमा गति।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्दा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।''

कठोपनिषद–2/3/10–11

अर्थात् जब पॉचों ज्ञानेन्द्रियॉ मन के साथ स्थिर हो जाती है, और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है, इस अवस्था को परमगति कहते है। इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग है। जिसकी इन्द्रियॉ स्थिर हो जाती है, उसमें शुभ संस्कारों की उत्पत्ति और अशुभ संस्कारों का नाश होने लगता है। यही अवस्था योग की है।

सांख्यशास्त्र में योग की परिभाषा इस प्रकार दी है –

'पुरूष प्रकृत्योतियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते।'
– सांख्यशास्त्र

अर्थात् प्रकृति – पुरुष का प्रथृकत्व स्थापित कर, अर्थात् दोनो का वियोग करके पुरुष के स्वरुप में स्थिर हो जाना योग है।

कैवल्योपनिषद के अनुसार –

'श्रृद्धा भक्ति योगावदेहि।'

अर्थात् श्रृद्धा भक्ति और ध्यान के द्वारा आत्मा को जानना ही योग है।

याज्ञवल्यक स्मृति के अनुसार –

'संयोगो योग इत्यक्तो जीवात्मा – परमात्मनो।'

अर्थात् जीवात्मा परमात्मा के मिलन को योग कहते है। अज्ञानता के कारण यह जीवात्मा संसार चक्र में फंसा रहता है। ज्ञान के उदय होने पर उसका परमात्मा से मिलन हो जाता है। फलस्वरुप उसके सभी दुःख समाप्त हो जाते है। इस प्रकार आत्मा परमात्मा के मिलन की स्थिति ही योग है।

अग्नि पुराण के अनुसार –

''ब्रहम प्रकाशनम् ज्ञानं योगस्थ त्रैचित्तता।
चित्त वृत्ति निरोधश्चः जीवन ब्रहममात्मनो परः।।''

–अग्नि पुराण 183/1–2

अर्थात् ज्ञान का प्रकाश पड़ने पर चित्त ब्रहम में एकाग्र हो जाता है। जिससे जीव का ब्रहम में मिलन हो जाता है। ब्रहम में चित्त की यह एकाग्रता ही योग है।

स्कन्ध पुराण के अनुसार –

''जीवात्मा परमार्थोऽयमविभागः परमतपः
सः एव परोयोगः समासा कथितस्तव।''

–स्कन्ध पुराण

अर्थात् जीवात्मा व परमात्मा का अलग – अलग होना ही दुःख का कारण है। और इस का अपृथक भाव ही योग है। एकत्व की स्थिति ही योग है।

लिंग पुराण के अनुसार –

'योग निरोधो वृत्तेस्तु चितस्य द्विज सत्तमा।'

–लिंग पुराण

अर्थात् चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाना, उसे पूर्ण समाप्त कर देना ही योग है। उसी से परमगति अर्थात् ब्रहम की प्राप्ति होती है।

'वैशेषिक दर्शन' में योग को इस तरह से परिभाषित किया है –

'तदनारम्भ आत्मस्ये मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः।'

–वैशेषिक सूत्र 6/2/16

अर्थात् मन आत्मा में स्थिर होने पर उसके (मन के काय का) अनारम्भ है, वह योग है।

श्रीमद् भगवद्गीता के अनुसार –

''योगस्थ कुरु कर्माणि संगत्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।''

–गीता 2/48

अर्थात् योग में स्थिर हो कर कर्म फल का त्याग कर, और सिद्ध–असिद्ध में सम होकर कर्मों को कर ; यही समता ही योग है।

''बुद्धि युक्तो जहॉ तीहं उभय सुकृत दुष्कृते।
तस्याद्योगाय युज्जस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।''

–गीता 2/50

अर्थात् कर्मो में कुशलता का नाम ही योग है। कर्मों की कुशलता का तात्पर्य यह है, कि हमे कर्म इस प्रकार से करने चहिए कि वे बन्धन का कारण ना बने। अनासक्त भाव से अपने कर्त्तव्य कर्मों का निर्वहन करना ही कर्म योग है।

''तं विद्याय दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्ताव्यो योगो ऽनिर्विण्णचेतसा।।''

अर्थात् उस योग को उत्साह, श्रद्धा, धैर्य, से समाहित चित्त से निश्चय पूर्वक करना चाहिए। इस दुख रुप संसार के संयोग से रहित है, वह योग है।

महोपनिषद के अनुसार – मन के संवेगो पर नियन्त्रण ही योग है।

महर्षि अरविन्द के अनुसार – जीवन को बिना खोए भगवान की प्राप्ति योग है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – प्राचीन आर्ष ग्रन्थो का अध्ययन ही योग है।

गुरु ग्रन्थ साहिब के अनुसार – निःस्वार्थ भावना से कर्म करना ही सच्चे धर्म का पालन है, और यही वास्तविक योग है।

रागेय राधव अपनी पुस्तक 'गोरखनाथ और उनका युग' में कहा है। – शिव व शक्ति का मिलन को योग कहते है।

योग वशिष्ठ में योग को इस तरह परिभाषित किया गया है – संसार सागर से पार होने की युक्ति का नाम ही योग है। महर्षि वशिष्ठ का कथन है, कि योग के द्वारा मनुष्य अपने वास्तविक स्वरुप सद्–चित्–आनन्द का अनुभव कर लेता है।

–वशिष्ठ संहिता 6/1/13/3

महोपनिषद के अनुसार –

'मनः प्रश्मनोपायो योग इत्याभिधीयते।'

– महो0 5/42

अर्थात् मन के प्रशमन का उपाय ही योग है। मन का प्रशमन अर्थात् मन का रम जाना या स्थिर हो जाना ही योग है।

1.5 योग का उद्देश्य

योग का उद्धेश्य हमारे जीवन का समग्र विकास करना है। या इसे ऐसे कह सकते है कि जीवन का सर्वांगीण विकास करना। सर्वांगीण विकास से तात्पर्य यहॉ शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक व सामाजिक विकास से है। योग जीवन जीने की कला है। योग एक ऐसा साधना विज्ञान है, जिसके द्वारा जन्म–जन्मो के संस्कार क्षीण हो जाते हैं। शारीरिक, एवं मानसिक निरोगता, स्वस्थता, व कुविचारों, कुसंस्कारों से मुक्ति मिलती है। सुसंस्कारिता, सुविचार के द्वारा अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जीवन उच्च व दिव्य बनता जाता हैं। आत्मदर्शन व आत्मसाक्षात्कार के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

कुछ ग्रन्थों में योग के उद्धेश्य को इस तरह परिभाषित किया गया है–

''द्विजसेवित शाखस्य श्रुति कस्पतरोः फलम्।
शमन भव तापस्य योगं भजत सत्तमाः।।''

–गोरक्ष संहिता

अर्थात् वेद रूपी कल्प वृक्ष के फल योग शास्त्र है। इस योगशास्त्र के सेवन से संसार के तीन प्रकार के ताप का शमन होता हैं।

शिव संहिता में इस प्रकार वर्णित है –

''यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम्।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्य भावितम्।।''

– शिव संहिता

जिसके जानने से यह संसार जाना जाता है, ऐसे योग शास्त्र को जानने के लिए परिश्रम करना चाहिए। अन्य शास्त्रो को जानने का प्रयोजन फिर कुछ नहीं रह जाता है।

योग अध्ययन का मुख्य उद्धेश्य ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना है। ऐसे योगियो व ईश्वर भक्तो का निर्माण करना है। जिनका भावनात्मक स्तर दिव्य मानवताओं से, दिव्य योजनाओं से, दिव्य आकॉक्षाओं से उमंगित हो, वे सामान्य – साधारण मनुष्यों की तुलना में कहि अधिक उत्कृष्ट व समर्थ होते है। ऐसे व्यक्तियों की कार्य क्षमता उच्च स्तर की होकर जीवन दिव्य, उच्च होता है।

योग विद्या के अलग – अलग विषयो पर देंखे – यदि हम अष्टॉग योग के अन्तर्गत देखे तो हम पाते है कि महर्षि पतंजलि ने अष्टॉग योग के द्वारा शरीर शुद्धि के साथ – साथ चरित्र की शुद्धि का उपाय बताया गया है। अष्टांग योग का उद्धेश्य चरित्र की शुद्धि कर स्थूल शरीर के विकर्षणों को दूर करना है। यम, नियम हमारे व्यवहार को चरित्र को शुद्धि सात्विक व निर्मल बनाते है। व्यवहार शुद्ध हुए बिना किसी भी साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, और मनुष्य का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता है। तब शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति की जा सकती है। चारित्रिक स्वास्थ्य यम – नियम का मूल उद्धेश्य है, और शारीरिक स्वास्थ्य आसन – प्राणायाम का मूल उद्धेश्य है। प्रत्याहार का मूल उद्धेश्य जीवन में संयम हैं। संयमित जीवन शैली प्रत्याहार द्वारा ही किया जा सकता है। धारण ध्यान समाधि का उद्धेश्य मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति है। धारण द्वारा चित्त का विखराव, भटकाव रोक कर एक स्थान विशेष उसको लगााना है, और अपने – अपने नियम लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करना ध्यान का उद्धेश्य है, और समाधि ध्यान की उकृष्ट अवस्था है, जिसके द्वारा आत्म साक्षात्कार प्राप्त किया जा सकता है। समाधि की उच्चतम अवस्था में परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। समाधि का उद्धेश्य मोक्ष की प्राप्ति है, जो कि मनुष्य मात्र का परम लक्ष्य है।

महर्षि पतंजलि कृत योग सूत्र में वर्णित क्रियायोग पर दृष्टि करें तो क्रियायोग का उद्धेश्य कर्मयोग, भक्तियोग, तथा ज्ञानयोग की प्राप्ति हैं। तप को अपनाकर कर्म करने की प्रवृति होती है। मनुष्य कर्मयोगी बनता है, और स्वाध्याय का उद्धेश्य है, ज्ञान की प्राप्ति और ईश्वर प्राणिधान का उद्धेश्य है, भक्ति की प्राप्ति। इस प्रकार कर्म, ज्ञान, भक्ति का समन्वय मनुष्य के लिए आवश्यक है। जो कि मनुष्य जीवन को उच्च व दिव्य बनाता है। क्रियायोग का उद्धेश्य है, क्लेशों जो कि मनुष्य जीवन में कलुषता लाते है, दुख देते है, उन क्लेशों को क्षीर्ण कर सर्वांगीण विकास करना। मनुष्य जीवन की आकुलता, कलुषता, पीड़ा, चिन्ता, तनाव आदि को खत्मकर सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति योग का मुख्य उद्धेश्य है। जिससे कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति दिव्य शान्ति एवं समरसत्ता को प्राप्त कर सकें। वही क्रियायोग क्लेशो को कमजोर कर समाधि की प्राप्ति में सहायक है। जब क्लेशो का पूर्ण रुपेण क्षय हो जाता है, तब समाधि की उच्चतम स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, और चित्त अपने मूल कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। तब आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, और पुरुष के लिए वही स्थिति कैवल्य की है। इस प्रकार क्रियायोग का उद्धेश्य क्लेशो को कम करके कैवल्य की प्राप्ति है।

आधुनिक युग में यदि देखा जाए तो योग का उद्धेश्य शारीरिक स्वास्थ्य या मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करना, धन अर्जित करना, शारीरिक सौन्दर्य की प्राप्ति, यश प्राप्ति तक ही सीमित रह गया है। किन्तु ये सभी गौंण है। योग का उद्धेश्य उस परम तत्व की प्राप्ति है। तीन पुरुषार्थ की पूर्ति करते हुए अन्ततोगत्वा मोक्ष की प्राप्ति ही योग का उद्धेश्य है।

1.6 योग का महत्व

प्रिय विद्यार्थियों यह योग विद्या इस आर्यावृर्त की अति प्राचीनतम विद्या है। यह योग विद्या प्राचीन काल से अब तक योगियों के ह्रदय में पवित्र मंदाकिनी के अविरल प्रवाह की तरह प्रवाहित होती आ रही है। यह विद्या हमारे ऋषि – मुनियों द्वारा प्रदत्त ऐसा साधन विज्ञान है, जो मानव जाति के उद्धार करने में समर्थ है। योग विद्या द्वारा आत्मा का परमात्मा से मिलन सम्भव है। मस्तिष्क का शरीर का नियन्त्रण हो पाता है। व्यक्तित्व को सुसंस्कृत व सुमन्नत यदि बनाया जा सकता है, तो वह योग विद्या के द्वारा ही सम्भव है, अन्य द्वारा नहीं। यदि योग विद्या को मानव धर्म से अलग कर दिया जाए, तो मानव जाति का उद्वार सम्भव नहीं। योग मानव जाति के लिए वह दिव्य चक्षु है, जिससे प्राप्त योग, दिव्य दृष्टि द्वारा सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों को जाना जा सकता है। इसी योग साधना के द्वारा ही आत्म साक्षत्कार, आत्मदर्शन, तत्वदर्शन, दिव्यदर्शन होता है। इसलिए याज्ञवल्क्य स्मृति में भी कहा गया है –

'अयं तु परमो धर्मो यत्योगेनात्मदर्शनम्।'

अर्थात् जिस साधना द्वारा आत्म दर्शन और ब्रहम साक्षात्कार होता है, वह योग शास्त्र है। वह मानव मात्र का परम धर्म होता है। अतः योग का अनुष्ठान करना चाहिए। आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, से

ही मुक्ति मिलती है। आत्मज्ञान के बिना यह सम्भव नहीं है, और आत्मज्ञान भी योग के अनुष्ठान किये दृढ़ अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता है। यह अनुष्ठान दीर्घ काल तक तो और कैसे हो उसका वर्णन महर्षि पतंजलि ने 1/14 में इस प्रकार किया है –

'सतु दीर्घ कांल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़ भूमि।'

अर्थात् यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार पूर्वक सेवा कर श्रृद्धा के साथ करने से ही सिद्ध होता है। अतः योग साधना की सिद्धि के लिए उत्साह और अटूट साधना और योग्य गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। तभी योग साधना में प्रगति होती है। इस योग साधना में प्रवृत्त ऋषि मुनियों ने वेद ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार दीर्ध सुखी व स्वस्थ जीवन जीने की कला, इस योग विद्या को अपनाया। धीरे – धीरे यह योग विद्या लुप्त हो गयी थी। परन्तु आधुनिक युग के समसामायिक संकटो से उपजे रोग, भय, तनाव, चिन्ता आदि से ग्रस्त मनुष्य ने इस योग का मार्ग अपनाया। और यह योग विद्या अपने प्रभाव से अत्यन्त लोक प्रिय हो गयी। इस योग विद्या पर सम्पूर्ण विश्व में शोध कार्य हो रहे है। यह योग विद्या साधारण मनुष्य के लिए जितना उपयोगी है, उतना ही उपयोगी योग के मुमुक्षु साधको के लिए भी हैं। योग विद्या के द्वारा सम्पूर्ण स्वास्थ्य के साथ – साथ मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। इस योग साधना के द्वारा मनुष्य अटूट स्वास्थ्य, दीर्घायु, दिव्य जीवन, अलौकिक विभूतियॉ, मुक्ति, मोक्ष आदि सभी कुछ प्राप्त कर सकता है। परन्तु आज के आधुनिक युग में भाग दौड़ भरी जिन्दगी में मनुष्य रोगों से ज्यादा ग्रस्त है, और योग ऐसे में मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के साथ – साथ सामाजिक स्वास्थ्य भी प्रदान करता है। विकास के इस युग योग का क्षेत्र अत्सन्त व्यापक है व योग का अनेक क्षेत्रो में महत्व है। मानवीय जीवन के अनेक क्षेत्रों में योग का महत्व है, जिसका वर्णन इस प्रकार है –

1.6.1 – शारीरिक महत्व – योग साधना का शारीरिक स्वास्थ्य में महत्वपूर्ण भूमिका है। योग के आठ अंगों में तीसरा, चौथा अंग आसन व प्राणायाम से शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। योगासनो से शारीरिक शक्तियों को विकसित किया जाता है। जिससे शरीर ह्रष्ट – पुष्ट बनता है। उससे अंग प्रत्यंग की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है, तथा शरीर स्वस्थ व निरोग बनता है। आसन व प्राणायाम के द्वारा सभी अंग सुचारू रूप से कार्य करने लगते है, तथा अंतस्रावी तन्त्र प्रभावित होता हैं, तथा ग्रन्थियो के स्राव सन्तुलित होते है। जिससे शरीर स्वस्थ होता है। योग एक स्वस्थ जीवन जीने की कला है। जिसे अपनाने से सुव्यवस्थित जीवन हो जाता है व शरीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

वही हठयोग के अभ्यास षट्कर्मो के द्वारा शरीर में व्याप्त मल बाहर निकलते है। शरीर शुद्ध होता है। कुपित हुआ वात, पित्त, कफ सन्तुलित होता है। वमन से कफ की निवृत्ति होती है। व पित्त की निवृत्ति होती है। वस्ति किया से वात की निवृत्ति होती है। इस प्रकार तीनों दोषों की समअवस्था प्राप्त होती हैं। यही साम्यावस्था ही पूर्ण स्वास्थ्य है। जिसे आयुर्वेद में भी मान्यता दी गयी है।

प्राणायाम के अभ्यास से वायु का शुद्ध सात्विक अंश ज्यादा से ज्यादा प्रवेश करता है। जिससे जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है, तथा प्रश्वास के द्वारा अधिक से अधिक मात्रा में विजातीय द्रव्य बाहर निकलते है। रक्त शुद्ध होता हैं, तथा मन एकाग्र तथा शरीर को स्थिरता प्राप्त होती है। इस प्रकार योग साधना से रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। शरीर में स्फूर्ति, मन में उल्लास, बहुमुखी प्रतिभा का उदय व विकास होने लगता है।

योग के अनुष्ठान करने से वर्तमान में फैल रहे मनोदैहिक रोगो पर विजय प्राप्त की जा सकती है। योग एक ऐसी सुव्यवस्थित व वैज्ञानिक जीवन शैली है। जिसे अपनाकर अनेको प्राणघातक रोगो से बचा जा सकता है। आज विश्व स्वास्थ्य संगठन भी इस बात को मान्यता देता है कि वर्तमान में व्याप्त शारीरिक व मानसिक रोगो के उपचारार्थ योग एक अचूक चिकित्सा विधि है। जिसके द्वारा शारीरिक क्षमता में वृद्धि कर शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। श्वेताश्वतर उपनिषद में योग का शारीरिक महत्व इस प्रकार वर्णन किया गया है –

''न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।'' – 2/12

अर्थात् जिसने योग रुपी अग्नि में अपने शरीर को तपा लिया उस मनुष्य के शरीर में न तो कोई रोग होता है, और न ही उसमे बुढ़ापे के लक्षण प्रकट होते है, और न ही असमय उसकी मृत्यु होती है। ब्रहम विद्योपनिषद में कहा गया है –

योग के अभ्यासो के द्वारा जो भी श्रम या तप किया जाता है, वह कभी भी निरर्थक नहीं जाता है। सत्कारपूर्वक यत्नपूर्वक की हुयी साधना मनुष्य को तीनों तापो (दुःखों) से मुक्त करती है।

1.6.2 – मानसिक महत्व – योग के द्वारा शारीरिक के साथ – साथ मानसिक स्वास्थ्य को भी प्राप्त किया जा सकता है। आज के आधुनिक समाज में मानसिक रोगो की वृद्धि होती जा रही है। मानसिक रोग एक भयावहता का रूप लेते जा रहे है। जिनका निराकरण करने में आधुनिक विज्ञान असमर्थ है। इस तनाव जन्य परिस्थितियो और रोगों से निपटने के लिए योगाभ्यास एक सफल व कारगर चिकित्सा पद्धति है। जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त किया जाता है। योग द्वारा चित्त की वृत्तियों पर अंकुश लगाया जाता है। मन की चंचलता को कम कर मानसिक एकाग्रता प्राप्त की जा सकती है। बच्चों के मानसिक विकास की वृद्धि हेतु प्राणायाम के अभ्यास आवश्यक है। स्मरण शक्ति के वृद्धि कर प्रज्ञा का प्रकाश योगाभ्यास द्वारा सम्भव है।

मानसिक रोग मन से उपजते है। यदि मन स्वस्थ हो तो शरीर भी स्वस्थ रहता है। हमारे मन शरीर में धनिष्ठ सम्बन्ध है, मन शरीर को प्रभावित करता है। मन में विषाद होने की स्थिति में शरीर दुर्बल हो जाता है। वही यदि शरीर में रोग होने की स्थिति में मानसिक रोग उत्पन्न होते है। शरीर को यदि रोग धेरते है, तो कहि ना कहि उनका कारण दुर्विचार भी होता है। क्योकि जो हमारे मन में होता है वही शरीर में प्रकट होता है। तीव्र भावावेश कटुता, घृणा, द्वेष, चिन्ता, ईर्ष्या और क्रोध के आवेश से मनुष्य शरीर की ग्रन्थियो से होने वाले स्राव का सन्तुलन बिगड़ जाता है। जिससे कि कई रोग उत्पन्न होते हैं। क्रोध के तीव्र आवेश शरीर के लिए विशेष हानिकारक होते है, जिससे रक्त में विषैले रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होते है। जिससे मनुष्य की शक्ति और ओजस्विता का ह्रास होता है, और अनेको रोगो के साथ – साथ असामायिक ही वृद्धावस्था आने लगती है। जीवनी शक्ति का ह्रास होने लगता है। मन को प्रभावित करने वाली वासनाओ तथा कुविचारो को ही यदि योग साधना के द्वारा नष्ट कर दिया जाए, तो शरीर के सभी मानसिक रोग ठीक हो जाते है। मन के निर्मल होने से शरीर स्वस्थ होता है। महर्षि पतंजलि ने योग साधना के अन्तर्गत ऐसी चित्त प्रसादन की साधना बतायी है, जिससे हमारा मन निर्मल होता है। योगाभ्यास से कुविचार समाप्त होकर सुविचारो का उदय होता है। मनुष्य उर्ध्वरेता यानि ऊँची सोच वाला हो जाता है। मानसिक एकाग्रता की प्राप्ति होती है, तथा जीवन तनाव रहित हो कर, असीम मानसिक शक्ति की प्राप्ति होती है।

1.6.3 – आध्यात्मिक महत्व – प्रिय विद्यार्थियो मनुष्य जीवन का मुख्य उद्धेष्य है, मोक्ष की प्राप्ति। इस महान लक्ष्य की प्राप्ति का माध्यम हमारा मन है। यह मन ही है, जो कि बन्धन और मोक्ष का कारण है। जैसा की शास्त्रों में वर्णित है –

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।'

अर्थात् मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। इसलिए योग साधना में मन को ईश्वरोन्मुख बना कर तत्वज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है। योग के द्वारा अनेको जन्मों के संस्कारो द्वारा मलिन हुए चित्त का निर्मल का आत्मा के यर्थाथ स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है। योग युक्त होते ही हमारी इन्द्रियॉ जो कि स्वभाव से ही चंचल है, वह अर्न्तमुखी होने लगती है। योग साधना के अभ्यास से दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है, और इस योग दृष्टि के द्वारा ही सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों को उजागर किया जा सकता है। इस योग साधना द्वारा तत्वदर्शन, आत्मदर्शन, अतीन्द्रिय दर्शन, दिव्यदर्शन व ब्रहमसाक्षत्कार किया जाता है। अनेको ग्रन्थों में जिनका वर्णन मिलता है। घेरण्ड संहिता में योग के महत्व को निम्न प्रकार से वर्णन किया गया है –

''अभ्यासात्कादिषर्णामां यथाशास्त्राणि बोधयेत्।

तथा योगं समासाद्य तत्वज्ञानं च लभ्यते।।'' – 1/5

जिस प्रकार 'क' 'ख' अक्षारारम्भ का अभ्यास करते – करते शास्त्र का विद्वान बना जाता है। उसी प्रकार योग का अभ्यास करते –करते तत्व ज्ञान प्राप्त हो जाता है। योग वस्तुतः पुरूषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का साधन है। मोक्ष पद को प्राप्त करने का श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम साधन है। ऐसा शास्त्रों द्वारा सिद्ध हो चुका है।

1.6.4 – पारिवारिक महत्व – परिवार समाज की एक ईकाइ होती है। व्यक्ति के विकास की नींव एक परिवार ही होती है। परिवार निर्माण एक ऐसी विशिष्ट साधना है, जिसमे विश्वास, श्रृद्धा, त्याग, संयम, तपस्या आदि प्रतिभा का परिचय देना पड़ता है। लोभ, मोह, अहंकार का त्याग कर सन्तोषी विन्रम व विवेकशील होकर अपने कर्तव्य कर्मों को निभाते हुए योग पथ पर चलता है, आदर्श सदगृहस्थ वही है। भारतीय शास्त्रो में गृहस्थ जीवन को गृहस्थयोग की संज्ञा देकर जीवन में इसका विशेष महत्व बताया गया है। परन्तु वर्तमान समाज में एकल परिवारो का बड़ता चलन तथा पाश्चात्य सभ्यता संस्कृति के अन्धानुकरण ने अनेको समस्याओ को जन्म दिया है। जिसमे नैतिक मूल्यो का ह्रास सा हो गया है। सुसंस्कृत परिवार की जगह उत्श्रृखल व असंगठित परिवार तथा अनैतिक आचरण देखने को मिल रहा है। इन सभी समस्याओ का समाधान योग में निहित है। योग के अन्तर्गत अष्टोग योग यम व नियम हमारे व्यवहारिक पक्ष की शुद्धि करते है, हमारा व्यवहार निर्मल बनाते है। योग युक्त जीवन जीने वाले मनुष्य एक अच्छे परिवार की रचना कर सकता है। क्योकि योग के अन्तर्गत जितनी साधना पद्धतियॉ है, उनके द्वारा सुझाये गये प्रेम, शान्ति, सहयोग, धैर्य, संयम, सहिष्णुता, साधना तथा सत्कर्म के मार्ग से ही जीवन सुखमय, उच्च व दिव्य बनाया जा सकता है। स्वार्थपरता और भौतिक सुखों को प्राप्त करने की चाह को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह के द्वारा नियमित किया जा सकता है। यम, नियम व अनुशासित जीवन पद्धति को अपनाकर पारिवारिक उन्नति की जा सकती है। इस प्रकार परिवार को कुसंस्कारों से मुक्ति तथा सुसंस्कारित तथा श्रेष्ठ जीवन योग द्वारा ही बनाया जा सकता है।

1.6.5 – सामाजिक महत्व – किसी भी समाज के उत्थान स्वस्थ व सुसंस्कारिक परिवार की अहम भूमिका होती है। स्वस्थ एवं सुसंस्कारित परिवार से ही एक आदर्श समाज की स्थापना होती है। इस आदर्श समाज की स्थापना में योग की भूमिका महत्वपूर्ण है। योग मनुष्य को शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ बनाता है, और एक स्वस्थ व्यक्ति ही स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है। आधुनिक समाज में मनुष्य धन कमाने तथा भौतिक संसाधनो को वटोरने तथा विलासिता पूर्ण जीवन विता रहा है। प्रतिस्पर्धा व उच्चतम चाह के लिए वह अनैतिक कार्यों को करता जा रहा है। नकारात्मक चिन्तन को प्रश्रय मिल रहा है। जिससे सामाजिक कुरीतियों या बुराईयों को बड़ावा मिल रहा है। नकारात्मक चिन्तन से अनेको शारीरिक व मानसिक रोग उत्पन्न होते है। योग के अन्तर्गत प्राणायाम का व आसनो का अभ्यास शारीरिक व मानसिक रोगों का निवारण कर उर्ध्वरेता यानि की ऊॅची सोच वाला हो जाता है। विचार उच्च हो जाते है। जिसका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है। ज्ञानयोग, कर्मयोग व भक्ति जैसे साधन हमारे समाज पर सीधा प्रभाव डालते है। कर्म, भक्ति, ज्ञान का समन्वय जीवन को उच्च बनाता है। समाज को रचनात्मकता तथा भक्तिमय दिशा प्रदान करता है, जिससे मनुष्य के कर्मों में कुशलता विचारो में उच्चता व विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है। कर्मों में कुशलता तभी आती है, जब भक्ति के द्वारा विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है। तथा कर्म निष्काम भाव से होने लगते है। और इस प्रकार निष्काम भाव से कर्म की प्रेरणा नैतिक मूल्यो की प्रेरणा सत्य अहिंसा की प्रेरणा योग द्वारा मिलती है। जिससे आदर्श समाज की स्थापना की जा सकती है।

1.6.6 – आर्थिक महत्व – मानव जीवन में आर्थिक स्तर और योग विद्या का सीधा सम्बन्ध कहा जा सकता है। मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थ के मूल में आरोग्य की प्राप्ति कर धर्म के साथ – साथ अर्थ का उपार्जन किया जा सकता है। अपने आर्थिक स्तर को वही मनुष्य उच्च स्तर का बना सकता है जो निरोगी होगा। एक निरोगी मनुष्य, स्वस्थ मनुष्य ही अपने आय के साधनो का विकास कर सकता है, और परिश्रम कर अपनी आय को बड़ा सकता है।

यौगिक अभ्यास के अन्तर्गत कर्मयोग निरन्तर कर्म करने की प्रेरणा देता है। जिससे कर्मयोगी बन मनुष्य अपने व्यवसाय को विस्तृत कर आय अधिक उपार्जित कर सकता है। यौगिक अभ्यास से कार्यक्षमता विकसित कर बड़े –बड़े उद्योगो के अन्तर्गत कार्यकरने वाले श्रमिको कर्मचारियो कार्यकुशलता

व कार्यक्षमता को बड़ाया जा सकता है। जिससे आर्थिक क्षेत्र में लाभ व उत्पादकता में वृद्धि की जा सकती है। शरीर में रोग होने की स्थिति में मनुष्य का आर्थिक स्तर प्रभावित होता है। रोगोपचार में होने वाला व्यय व इसके दुष्प्रभाव शारीरिक व मानसिक रुप से भी प्रभावित करते है। और कार्यक्षमता भी प्रभावित होती है। योगाभ्यास के सतत् अभ्यास से मानसिक एकाग्रता तथा प्रतिरोधी क्षमता में वृद्धि होती है। जीवनी शक्ति प्रबल होती है। जिसमें आर्थिक सुसम्पनता लायी जा सकती है। बड़े – बड़े उद्योगपति व फिल्म उद्योग के प्रसिद्ध व्यक्ति योगाभ्यास के द्वारा अपनी कार्यक्षमता बड़ाते हुये देखे जा सकते है। वे आसन प्राणायाम व ध्यान के अभ्यास के द्वारा शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करते है, और कार्य कुशलता से सम्पन्न करते है। वही स्कूल व कालेजो में योग प्रशिक्षक नियुक्त किये जा रहे है। जो कि योग विद्या से धन लाभ ले रहे है। आज पूरे भारत वर्ष में तथा अन्य देशों में योग केन्द्र संचालित किये जा रहे है। जिसमें शुल्क लेकर योग प्रशिक्षण दिया जाता है, तथा दूर – दूर से सैकडों सैलानी इस भारतीय विद्या को सीखने आते है। इससे भी आर्थिक लाभ प्राप्त होता है।

1.6.7 – नैतिक महत्व – योग व्यक्ति को नैतिक मूल्य सद्गुणों को विकसित करन में सहायक है। योग साधना द्वारा इन्द्रिय संयम कर नैतिक व सद्विचारो का और आदतों को विकसित किया जा सकता है। योग के अन्तर्गत यदि हम अष्टॉग योग की बात करे तो देखेगे कि इसके व्यवहारिक व चिकित्सकीय पक्ष है। अष्टॉग योग के अन्तर्गत यम (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रहमचर्य) और नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान) हमारे व्यवहार की शुद्धि करते है, व नैतिक मूल्यो को विकसित करते है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में प्रचलित नैतिक शिक्षा बालको में नैतिक गुणों को विकसित नहीं कर पाती हैं। जबकि योगानुष्ठान के द्वारा बालक व सभी आयु वर्ग के व्यक्ति में नैतिक गुण विकसित किये जा सकते है। योगानुष्ठान के द्वारा मन की शुद्धि होती है। शरीर की शुद्धि होती है। योगानुष्ठान करने वाले साधक की वुद्धि विकारो से रहित हो जाती है। तथा विवेक ज्ञान की प्राप्ति होती हैं। सही गलत का ज्ञान होने लगता है, और इस प्रकार मनुष्य में नैतिक गुणो को विकसित करने में योग की अपनी अहम भूमिका है। योग सूत्र में वर्णित क्रियायोग तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान यह साधना का क्रिया पक्ष है। क्रियायोग के तीन पक्ष है। तीनों पक्ष ऐसे है, जिससे व्यक्ति उत्कृष्ट चिन्तन, कुशल कर्म तथा सालीन व्यवहार वाला हो जाता हैं। योगागो के अभ्यास से इन्द्रिय संयम, समय संयम, विचारो में संयम तथा सुव्यवस्थित, अनुशासित जीवन हो जाता है। नैतिकता के गुण, पुण्य, भलाई, नेकी, सदाचार के मार्ग पर मनुष्य तीव्र गति से अग्रसर होने लगता है।

1.6.8 – चारित्रिक महत्व – योगविद्या एक आदर्श व उच्च चरित्र के निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। योगागो के सतत् अभ्यास से व्यक्तित्व का रुपान्तरण होता है। मात्र भक्ति योग के अभ्यास से ही व्यक्तित्व का रुपान्तरण किया जा सकता है। जिसका समावेश क्रियायोग के अन्तर्गत ईश्वर प्राणिधान में है। ईश्वर प्राणिधान ईश्वर के प्रति पूर्ण रुपेण सम्पर्ण ईश्वर की उपासना से है। ईश्वर की उपासना से ईश्वरीय गुणो का समावेश होने लगता है। तत्पश्चात् इन्द्रियॉ तेजस्वी तपस्वी होने लगती है। मन एकाग्र व जीवन मर्यादित होने लगता है। तथा चरित्र उत्तम होने लगता है। यम नियम का अनुसरण करने पर सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रहमचर्य तथा तप स्वाध्याय, सन्तोष जैसे गुणो का जीवन में समावेश होने लगता है, तथा मनुष्य को वासना, कुविचारो, लोभ, मोह, प्रमाद आदि से छुटकारा मिलता है। तथा इन्द्रियो में संयम, विचारो में उच्चता, जीवन में उत्साह, सौन्दर्य का प्रवेश होता है, तथा उत्तम चरित्र प्राप्त कर जीवन दिव्य बनता है।

प्रिय विद्यार्थियो आप समझ ही गये होगे कि योग वास्तव में जीवन जीने की ऐसी कला है, जो कि वैज्ञानिक है। जिसका हमारे जीवन के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, पारिवारिक, नैतिक व चारित्रिक प्रत्येक पक्ष पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। हमारे ऋषि मुनियो द्वारा प्रदत्त यह योग विद्या आज केवल योगियो सिद्धो तक ही सीमित नहीं है। बल्कि जन – जन के बीच लोक प्रिय व आदर्श पद्धति बन चुकी है। आज योग के द्वारा सुव्यवस्थित, सुसंस्कारित व वैज्ञानिक जीवन शैली को अपनाकर मनुष्य स्वास्थ्य लाभ ले रहा है। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए शारीरिक व मानसिक रोगो के उपचार हेतु तथा कार्य क्षमता में वृद्धि हेतु, तनाव से मुक्ति हेतु व जीवन को दीर्घ आयुष्य व दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए योग का अनुसरण करते हुए देखा जा सकता है।

योग की बड़ती मॉग इस बात को प्रमाणित करती है। योग की महत्ता स्वयं सिद्ध हैं, तथा प्राचीन काल में भी योग महत्ता व लोक प्रियता का वर्णन श्रीमद्भगवद् गीता में श्रीकृष्ण ने इस प्रकार किया है। योग के उत्कर्ष का वर्णन इसमे श्रीकृष्ण ने किया है –

''तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जनः।।'' – गीता 6/46

अर्थात् योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, और केवल शास्त्रो के जानने वाले अनुभव रहित ज्ञानियो से भी श्रेष्ठ माना जाता है। कर्म काण्ड़यो से भी योगी श्रेष्ठ है। ऐसा ज्ञान इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी बन। शास्त्रों के ज्ञाता से तप से योगी को श्रेष्ठ बताया गया है। अत इस योग विद्या का अनुसरण कर मनुष्य जीवन का मुख्य उद्धेश्य मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

1.7 सारॉश

योग शब्द संस्कृत व्याकरण के 'युज' धातु से बना है। जिसका अर्थ है जुड़ना। जुडना एक ऐसी विद्या से जिससे की मनुष्य जीवन का सर्वागीण विकास हो, तथा वह ब्रहम विद्या की प्राप्ति या समाधि की प्राप्ति के लिए अग्रसारित हो सके। योग को महर्षि पतंजलि ने परिभाषित किया है। चित्त वृत्ति निरोध के रुप में चित्त वृत्ति के सर्वथा अभाव की स्थिति ही कैवल्य की स्थिति है। वेदो में पुराणों में योग की महिमा का गुणगान किया है। वही श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में कर्मो की कुशलता के रुप में परिभाषित किया है। इस प्रकार यह योग विद्या प्राचीन ग्रन्थो में महत्वपूर्ण अंग माना गया है।

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ ही गये होगे कि योग क्या है, योग का अर्थ क्या है, योग को किस प्रकार अनेक ग्रन्थो में परिभाषित किया गया है। योग विद्या जीवन जीने की ऐसी कला है। जिसमें मनुष्य अपने जन्म – जन्मान्तरों के कर्म संस्कार का क्षय करके अपना सर्वांगीण विकास कर मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप योग के उद्धेश्य व महत्व को समझ कर इस प्राचीनतम विद्या को अपना कर लाभान्वित होगे। इस विद्या को स्वयं तथा समाज में अनुभूत का अभिव्यक्त करेंगे।

1.8 शब्दावली

- पंचमहाभूत – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश।
- युज – जुड़ना।
- आत्मसाक्षात्कार – आत्म प्रबोध आत्मा का ज्ञान।
- योगागों – योग के अंगों के लिए प्रयुक्त शब्द।
- सात्विक – सत्व गुण युक्त।
- सहिष्णुता – सहनशीलता।
- उर्ध्वरेता – ऊॅची सोच, उन्नति की ओर।
- ओजस्विता – तेजस्विता, प्रभाव, प्रकाश।
- षट्कर्म – वह 6 कर्म जिनका वर्णन हठयोग में किया गया है।
- गूढ़तम –जटिल, कठिन।
- विकर्षण – आकर्षण वह शास्त्र जिसमें आकर्षण सम्बन्धी तत्वों का वर्णन हो।
- अन्तःकरण – अन्तरात्मा, आत्मा।

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1–विज्ञानानन्द सरस्वती। (2003), योग विज्ञानयोग। निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।
2–कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।

3–निरजनानन्द – (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।
4–कुमारी राज पाण्ड़ेय। (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली
5–व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।
6–योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।
7–मिश्र चन्द्र जगदीश (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए योग को परिभाषित कीजिए ?
2. योग का क्या उद्धेश्य है ? तथा मानव जीवन में इसके महत्व को समझाइये ?
3. आधुनिक युग के समसायिक संकटो को समाधान क्या योग द्वारा सम्भव है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई – 2 – योग का संक्षिप्त इतिहास

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 योग का संक्षिप्त इतिहास

2.3.1 योग का उद्भव

2.3.2 वैदिक काल

2.3.3 उपनिषद काल

2.3.4 दर्शनों का काल

2.3.5 टीकाकाल

2.3.6 भक्ति एवं हठयोग का उत्कर्ष काल

2.3.7 आधुनिक काल

2.4 सारॉश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

योग विद्या अति प्राचीन काल से ही भारतीयमनीषियो के अन्तःकरण में विमल मन्दाकिनी की अविच्छिन्न धारा की तरह प्रवाहित होती आ रही है। योग हमारे पूर्वज व ऋषियो का साधनालब्ध ऐसा आन्तर विज्ञान है, जिसकी उपज हमारे समस्त दर्शन शास्त्र कहे जा सकते है। केवल दर्शन शास्त्र ही नही श्रुत्रि, स्मृति, उपनिषद, पुराण, धर्मशास्त्र तथा ज्योतिष आदि सभी विद्याए इसी योग शास्त्र के द्वारा प्राप्त हुई है। इस योग विद्या की एक कल्पतरू वृक्ष से तुलना की गयी है।योग की अलौकिकता, साक्षात्कृत चमत्कारिक सफलता की हमारे समस्त आर्ष वाग्मय में प्रशंसा की गयी है।इस योग साधना द्वारा आध्यात्मिक सत्ता का यर्थाथ रूप अनुभव तथा साक्षात्कार होता है। प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदाय के साधको ने योग की प्रशंसा की है, तथा इसके अनुसरण की प्रेरणा दी है।

योग वस्तुतः हमारे ऋषि महर्षियों द्वारा प्रतिपादित आर्ष ग्रन्थों से निकला हुआ ऐसा नवीनतम है, जिसे हमारे ऋषि मुनियो ने मानव कल्याण के लिए प्रतिपादित किया है। वेद, पुराण, उपनिषद, दर्शन तथा टीकाओं के योग का प्रचलन अवश्य ही था।

प्रस्तुत इकाई में योग के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन किया जा रहा है।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप –

- योग के संक्षिप्त इतिहास का विश्लेषण कर सकेगें।
- वैदिक काल में योग के स्वरूप का अध्ययन कर सकेगें।

- उपनिषद का दर्शन काल में योग के स्वरूप का विश्लेषण कर सकेगें।
- भक्ति काल व हठयोग काल व टीका काल का अध्ययन कर सकेगें।
- योग के आधुनिक स्वरूप को समझ सकेगें।

2.3 योग का संक्षिप्त इतिहास

भारत में ही नहीं वरन् विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेदों में ही सर्वप्रथम योग का संकेत मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम, नवम् मण्डल में यह संकेत मिलता है कि प्रारम्भ में आर्यगण सांसारिक भोगो में ही पूर्णतया लीन थे, तथा इहलौकिक सुख – सम्पत्ति की कामना के लिए ईश्वर की स्तुति एवं दान व यज्ञ आदि कर्म किया करते थे। वेदो के मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रहमज्ञान था। इसके अतिरिक्त कर्मकाण्ड ब्रहमज्ञान को प्रेरित करने में सहायक थे।

वैदिक शिक्षा सभी प्रकार से मनुष्य के लिए उपकारी थी। उन मनुष्यो के लिए भी, जो कि अति मलिन अन्तःकरण वाले थे, तथा जो सांसारिक बन्धनो में बधे हुए थे। उन मलिन चित्त में ज्ञान का उदय नहीं हो सकता था। उनके चित्त की शुद्धि के लिए कर्मकाण्ड पर आधारित यज्ञ, जप, दान आदि कर्म आदि बताये गये। चित्त की शुद्धि के बाद जब उनमें ज्ञान ग्रहण करने की योग्यता उत्पन्न हो गयी तब उन्हें कर्मकाण्ड से हटाकर परमात्मा स्वरूप में लगाया गया है। जिसका स्पष्ट संकेत इस ऋचा में मिलता हैं –

'ऋचो अक्षरे परमे व्योम – समासतेः।'

– ऋग्वेद, 1/64/39

अर्थात् जिसे ब्रहम कहते है। जिसका अधिष्ठान परम् व्योम है। इसी में वेदो की ऋचायें एवं विश्व के समस्त देवो का निवास है, जो इस ब्रहम तत्व को नहीं जानता है। उसके लिए शब्दात्मिका ऋचायें निष्प्रयोज्य है, जो उस अक्षर ब्रहम को जानता है, वही ब्रहम सम्बन्धी चर्चाओ में स्थान पाने योग्य है। वेदो में प्रतिपाद्य विषय ब्रहम ज्ञान ही है, तथा ब्रहमज्ञानी व्यक्ति ही वेदज्ञानी हो सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि योग विद्याा का प्रारम्भ वेदो से ही हुआ।

कुछ विद्वानो का मत है, तथा आधुनिक शोधो से स्पष्ट हुआ है कि योग सिन्धु कालीन सभ्यता से प्रारम्भ हुआ है। पुरातत्वविदो ने कुछ समय पहले जो मोहन जोदड़ो आदि में धार्मिक अवशेष प्राप्त हुए है। उनमें जो नर देवता की मूर्ति मिली है, वह त्रिमुखी है, तथा वह एक योग मुद्रा में बैठी हुई है। इससे प्रतीत होता है कि सैन्धव कालीन सभ्यता में यौगिक विचार धारा का प्रचलन उस समय भी था। आधुनिक शोधो से पता चलता है कि सिन्धु सभ्यता, वैदिक सभ्यता के पश्चात् वैदिक मूलक सभ्यता है। यह सभ्यता भारतीय संस्कृति की प्रबल विशेषता लिये हुए संस्कृति थी जो कि मिश्रित संस्कृति से युक्त थी।

इस प्रकार उत्खनन से प्राप्त देवी – देवताओ की प्रतिमाये, आध्यात्मिक प्रतीक चिन्ह वैदिक कालीन चिन्हो से समानता लिये हुए है। इन्ही कारको के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता से भिन्न नहीं थी, वरन् वैदिक सभ्यता का ही अंग है। इससे यह स्पष्ट होता है कि योग सम्बन्धी विचार धारा का उल्लेख सर्वप्रथम हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है। वैदिक मन्त्रो की रचना योग का ही परिणाम कहा जा सकता है। ऋषि – मुनियो ने वैदिक मन्त्रो में इसे प्रकार प्रकट किया –

तद्यदेनांस्तपस्यमानान्ब्रहमा.....

अर्थात् तपस्या परायण व्यक्तियो के हृदय मे स्वयंभू ब्रहमा आविर्भूत हुआ, इसलिए वह ऋषि कहलाए। इसी कारण वेदो को अपोरूषेय एवं ऋषियो को मन्त्र दृष्टा कहा गया है। इससे स्पष्ट होता हैं कि योग का प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल से पूर्व ही हो जाता है। योग को किसी काल से सम्बद्ध करना

सही नहीं है। क्योकि यौगिक ज्ञान काल की सीमाओ से परे है, तथा मनुष्य की अन्तरात्मा से सम्बन्ध ज्ञान है।

अतः कहा जा सकता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही योग विद्या प्रचलित थी। इस बात की पुष्टि के लिए हमें योग के प्रथम वक्ता कौन थे, इस बात पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है –

2.3.1 – योग का उद्भव – योग अति प्राचीनतम विज्ञान है। वेद काल से लेकर आधुनिक काल तक के सभी ऋषि, सन्त, विद्धान, साहित्यकार, मनोवैज्ञानिक आदि योग की महिमा को मानते है। विभिन्न प्राचीन साहित्यो में योग के प्रथम वक्ता के सन्दर्भ निम्नलिखित वर्णन मिलता हैं – योग के आदि वक्ता का श्रेय हिरण्यगर्भ को दिया गया हैं। विभिन्न आर्ष ग्रन्थो में हिरण्यगर्भ का वर्णन इस प्रकार किया गया हैं।

- याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार –

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।'

याज्ञवल्क्य स्मृति 12/5

हिरण्यगर्भ योग के आदिवक्ता है अन्य कोई नहीं।

- महाभारत में योग के आदिवक्ता हिरण्यगर्भ का वर्णन इस सुक्ति से ज्ञात होता है –

''सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि स उच्यते।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।।''

महाभारत, 2/394/65

अर्थात् सांख्य के वक्ता परम ऋर्षि कपिल कहे गये हैं, और योग के प्राचीन वक्ता हिरण्यगर्भ कहे गए है।

- अद्भुत रामायण में तो स्पष्ट ही हिरण्यगर्भ को जगत की अन्तरात्मा बताया गया हैं –

'हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा।' – अद्भुत रामायण 5/6

- टीकाकार नीलकण्ठ ने महानिति च योगेषु श्लोकांश के अर्थ में कहा है कि ''योगेषु एष महानिति प्रथम कार्यम्।''

अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराज की यही महान इति है कि आपने वेदो से भी प्रथम योगविद्या अर्थात् पराविद्या का प्रादुर्भाव किया।

- श्रीमदभागवत् में भी इसी अभिप्राय की पुष्टि की गयी हैं –

''इदं हि योगेश्वर योगेनपुणं हिरण्यगर्भो भगवाञ्जगाद् यत्।

यदन्तकाले त्वयि निर्गुणमने, भक्त्या दीधितोज्भिक्त दुष्कलेवर।।''

महाभारत 2/394/65।

अर्थात् हे योगेश्वर मनुष्य अनन्तकाल में देहाभिमान त्यागकर आपके निगुण स्वरूप में चित्त लगाए इसी को भगवान हिरण्यगर्भ ने योग की सबसे बड़ी कुशलता बताया हैं।

अतः यहॉ पर हिरण्यगर्भ को योग का प्रवक्ता और परमात्मा दोनो के रूप में माना हैं।

- हिरण्यगर्भ का ब्रहम रूप में वेदो में भी उल्लेख हैं –

''हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

सा दाधार पृथिवी घामुतेमां

कस्मै देवाय द्वविषा विधेम्।।''

ऋग्वेद, 1/121/1, यजु0 अ0 13, मन्त्र 4।

अर्थात् सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुए, जो सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र पति है। जिन्होने स्वर्ग और पृथिवी को आधार किया। उन प्रजापति देव का हम हृदय द्वारा पूजन करते हैं। इस प्रकार प्राचीनतम वेद भी हिरण्यगर्भ योग के प्रवक्ता मानते है।

जब उपरोक्त साक्ष्य को पढ़कर यह प्रश्न मन में उठता है कि हिरण्यगर्भ से क्या आश्रय है ? हिरण्यगर्भ कौन है ?

हिरण्यगर्भ दो शब्दो से हिरण्यं और गर्भ से मिलकर बना है :–

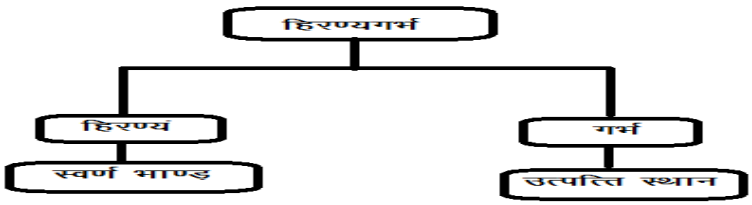

हिरण्यं से तात्पर्य स्वर्णभाण्ड़ से और गर्भ से तात्पर्य उत्पत्ति स्थान से है। अतः हिरण्यगर्भ को सोने के अण्ड़े से निकला हुआ चौमुखी ब्रहम माना जाता हैं। योग के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ को माना गया है। व्यक्ति रूप में संहिता काल में वे मन्त्र दृष्टा ऋर्षि थे, तो वही इस बारे में अभी विचार किया जाना है कि याज्ञवक्य तथा व्यास ऋर्षि द्वारा रचित हिरण्यगर्भ कौन हैं ?

सामान्यतः सात हिरण्यगर्भो का वर्णन आता हैं, जो निम्न है :–

- पहले हिरण्यगर्भ – सूर्य, – 1.तत्व रूप में, 2.ऋर्षि रूप में,
- दूसरे हिरण्यगर्भ – बुद्धि या महत्तत्व
- तीसरे हिरण्यगर्भ – आचार्य हिरण्यगर्भ
- चौथे हिरण्यगर्भ – शिव के शिष्य
- पॉचवे हिरण्यगर्भ – ऊर्जा ऋर्षि के पिता
- छठे हिरण्यगर्भ – ऋर्षि परमेष्ठी प्रजापति के पुत्र
- सतवें हिरण्यगर्भ – प्रजापति ब्रहमा जी

(1). पहले हिरण्यगर्भ – सूर्य को पहला हिरण्यगर्भ माना गया है। यहॉ सूर्य को दो रूपो में माना गया है। एक सूर्य देवता के रूप में और दूसरा आचार्य सूर्य के रूप में। तत्व रूप सूर्य देवता योग के आदिवक्ता है। यह किसी भी काल में प्रमाणित नही हो सका हैं। वही आचार्य सूर्य द्वारा रचित ग्रन्थ 'योगमार्तण्ड' का वर्णन भलई स्वर्गीय धनराज शास्त्री ने 'स्मृति संग्रह' नामक ग्रन्थ में किया है। परन्तु योगमार्तण्ड़ उपलब्ध नही है। प्रमाण के अभाव में आचार्य सूर्य भी आदिवक्ता नही कहे जा सकते हैं।

(2). दूसरे हिरण्यगर्भ – दूसरे हिरण्यगर्भ भौतिक तत्व महतत्व या बुद्धि तत्व को माना गया है। महाभारत में वर्णित हैं :– 'हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।' यहॉ बुद्धि या महतत्व को ही हिरण्यगर्भ कहा गया हैं। बुद्धि एक भौतिक तत्व है, योग जैसी विद्या का आदिवक्ता तत्वात्मक नही हो सकता है। अतः दूसरे हिरण्यगर्भ को योग का उपदेष्टा नही माना जा सकता है।

(3). तीसरे हिरण्यगर्भ – योगी अहिर्बध्न्यु ने तीसरे हिरण्यगर्भ का वर्णन किया है। महान योगी अहिर्बध्न्यु अपनी संहिता 'अहिर्बध्न्यु संहिता' में लिखते है कि आचार्य हिरण्यगर्भ ने दो योग संहिताओ, 'निरोध संहिता' और 'कर्मयोग संहिता' की रचना की थी। निरोध संहिता के नाम से अनुमानित है कि यह चित्त वृत्ति निरोध से सम्बन्धित होगा। परन्तु यह वर्तमान में उपलब्ध नही है। अहिर्बध्न्यु संहिता में वर्णित हिरण्यगर्भ योग का आदिवक्ता नही हो सकता, क्योकि योग का विस्तृत वर्णन और प्रचलन आहिर्बध्न्यु संहिता सं भी पहले श्रुति, स्मृति, ब्राहमण, आरण्यक तथा पुराणो में है। अतः इसमे वर्णित हिरण्यगर्भ को आदिवक्ता मानना तर्कसंगत नही है।

(4). चौथे हिरण्यगर्भ – चौथे हिरण्यगर्भ को योगशिखोपनिषद में कल्याणकारी शिव का शिष्य माना गया हैं। परन्तु उसके द्वारा बनाये गये किसी भी योग शास्त्र का प्रमाण नही मिलता, अतः योग के आदिवक्ता हिरण्यगर्भ ये नही हैं।

(5). पॉचवें हिरण्यगर्भ – पॉचवे हिरण्यगर्भ को ऋर्षि रूप में माना गया है। यह उत्तम नामक मन्वनतर के ऊर्जा ऋषि के पिता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके द्वारा वर्णित कोई भी मन्त्र या इनका सूक्त वेदो में उपलब्ध नही है, और साथ ही साथ उनकी योग सम्बन्धी कोई कृति उपलब्ध नही हैं। अतः ये भी योग के आदिवक्ता या उपदेष्टा हिरण्यगर्भ है ही नही।

(6). छठे हिरण्यगर्भ – छठे हिरण्यगर्भ ऋषि परमेष्ठी प्रजापति के पुत्र थे। इनकी एक कन्या और आठ पुत्र सहित नौ सन्ताने थी। सभी सन्ताने ऋग्वेदीय मन्त्रदृष्टा ऋषि हुयी। इनकी सन्तानो में 127 मन्त्र दिये, इनमें हिरण्यगर्भ के केवल 10 मन्त्र थे, जिनका वर्णन 10वे मण्डल के 121वे सूक्त के 1–10वे मन्त्र तक मिलता हैं। इन मन्त्रो में कही पर भी योग सम्बन्धी कोई वर्णन नही मिलता हैं।

(7). सातवें हिरण्यगर्भ – सातवे हिरण्यगर्भ स्वयं प्रजापति ब्रहमा जी हैं। सृष्टि निर्माण के लिए प्रजापति ब्रहमा जी ने सर्वप्रथम योग रूप तप किया और जीवसृष्टि रचित की थी। ब्रहमा जी ने ब्रहम संहिता नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वेदो में अनेक ऐसे मन्त्र जो योग का प्रतिपादन करते है, और प्रजापति ब्रहमा ही चारो वेदो के ज्ञाता हैं।

अतः सृष्टि के आदिकालिक देव और वेदज्ञ होने के कारण ब्रहमा जी (सातवें हिरण्यगर्भ) को ही योग का वक्ता या आदि उपदेष्टा मानना स्पष्ट ही न्यायसंगत एवं तर्कसंगत हैं।

पूर्व में वर्णित उपरोक्त तथ्यो के आधार पर हम कह सकते है कि एक दूरदर्शी, वैज्ञानिक, तत्वदर्शी ऋषि हुए जिन्होने मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्रदान करने वाली योग विद्या को सूत्र रूप में महर्षि पतंजलि ने समेटा और योगसूत्र नामक महान ग्रन्थ की रचना की। सृष्टि के प्रारम्भ के साथ ही मनुष्य के दुःखो के शमन हेतू योग विद्या सहज ही प्राप्त रही है। मावन के अलग – अलग कालो में योग के अलग – अलग स्वरूपो को आत्म सार किया जिसका वर्णन निम्न हैं :–

2.3.2 – वैदिक काल – वेद को सभी सत्य विद्याओ की पुस्तक कहा जाता हैं। यह मान्यता है कि वेदो में मानव जीवन की समस्त समस्याओ का समाधान निहित है। सत्यविधा के अन्तर्गत ब्रहम के स्वरूप का बोध कराने वाली ब्रहमविद्या अर्थात् योगविद्या प्रमुख है।

वेदो में ऋग्वेद की 21 शाखाएँ, यजुर्वेद की 101 शाखाएँ, सामवेद की 1000 शाखाएँ और अर्थवेद की 6 शाखाओ सहित कुल 1131 शाखाएँ वर्तमान में उपलब्ध हैं। वेद की इन सभी शाखाओ में योग परक मन्त्र मिलते है। यजुर्वेद के इस मन्त्र में योगाभ्यास करने का उपदेश मिलता हैं, जिनका वर्णन निम्न है :–

''युजे वॉ ब्रहम पूर्व्य नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्याति तस्थुः।''

– यजुर्वेद 11/5

वही ऋग्वेद में :– 'तं पाकेन मनसा अपश्यम्।'' ऋ0 1/16/17 में पवित्र मन का वर्णन है। 'ऋतधीतय आ गत सत्यधम्मीणा' के मन्त्र द्वारा ऋग्वेद में सत्य, अहिंसा के व्यवहार को आदर्श व्यवहार बतलाया गया है। सत्य, अहिंसा योग के यम के अंग है। वेदो में यम एवं नियम के सभी अंगो का वर्णन है। हठ योग में वर्णित अंगो का भी वर्णन है :–

''अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।''

– अथर्ववेद 10/1/2/31

इसमें मावन देह को आठ चक्रो नव द्वारो से युक्त एक अपराजेय देव नगरी कहा है। योग की ही भॉति वेदो में ओंकार को ब्रहम का स्वरूप माना गया हैं :– ''ओम् खं ब्रहम।'' 40/17। योग में ब्रहम का साक्षात्कार करना अपने स्वरूप में स्थिति होना मावन जीवन का परम लक्ष्य माना गया हैं, और इस स्थिति को समाधि की संज्ञा दी गयी है। वेदो में भी समाधि का वर्णन इस प्रकार मिलता है।

''स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् गमद् बाजे भिरा स नः।''

– ऋ0 1/5/3/1, सा0 30/2/1011 अथर्व0 20/26/9

अर्थात् इसमें ब्रहम का समाधि की स्थिति में दर्शन हेतू आह्वान किया गया है, और ऋतरम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति की इच्छा की गयी है। इसमें ऋद्धि – सिद्धि सहित ईश्वर प्राप्ति की इच्छा की गयी है।

अतः उपरोक्त विवरणो के आधार पर हम कह सकते है कि योग विद्या के विभिन्न अंगो का चारो वेदो में भिन्न – भिन्न स्थानो पर वर्णन मिलता है।

2.3.3 – उपनिषद का काल – भारतीय आध्यात्मिक वाड•मय में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उपनिषद वैदिक साहित्य और दार्शनिक चिन्तन की विचारधारा से युक्त है।

'उपनिषद' शब्द 'उप' नि उपसर्गक सद् धातु से क्लिप प्रत्यय जोड़ने से निष्पन्न हुआ हैं। सद् धातु के तीन अर्थ– प्रथम विशरण अर्थात् नाश होना। द्वितीय गति अर्थात् प्राप्त होना एवं तृतीय अवसादन शिथिल करना है। अतः उपनिषद वह आध्यात्मिक विद्या है, जो तृष्णा, अविद्यादि का नाश करके ब्रहम की प्राप्ति का ज्ञान देती है। जिससे सभी दुःखो का सर्वथा शिथिलिकरण हो जाता हैं। मुक्तिकोपनिषद में 108 उपनिषद का वर्णन है, जिसमें 10 उपनिषद ऋग्वेद से, 19 शुक्लयजुर्वेद से, 32 कृष्णयजुर्वेद से, 16 सामवेद से तथा 31 अथर्ववेद से सम्बन्ध है। कही – कही पर 223 उपनिषदो का उल्लेख हैं।

उपनिषदो में शंकराचार्य के भाष्य युक्त उपनिषद ईश, केन, कठ, प्रश्न, मण्डुक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक आदि उपनिषदो में योग विद्या का विस्तार से वर्णन हैं। उपनिषदो का प्रमुख प्रतिपादन विषय ब्रहमविद्या ही है।

- कैवल्योउपनिषद में ऋद्धा, भक्ति और ध्यान के द्वारा आत्मा को जानने को योग कहा हैं। यथा – ''ऋद्धा भक्ति योगादवेहि।''
- अमृतनादोपनिषद में प्रत्याहार, धारणा, प्राणायाम, तर्क और समाधि इन छः अंगो को योग कहा गया है। यथा – ''प्रत्याहारस्तथा ध्यान प्राणायामौऽथ धारणा।

  तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगोयोग उच्यते।।''
- वही योगशिखोउनिषद में मन्त्र योग, लय योग, हठ योग और राज योग इन चारो को चतुर्विध योग बताया है। इसे महा योग की संज्ञा दी गयी है।
- वही मण्डुक उपनिषद में कहा गया है कि ब्रहम हृदय में ज्योतिषमान रूप में विद्यमान हैं। उसके स्वरूप व स्थिति को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही योग है।

यथा – ''अन्तः शरीर ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्चन्तियतयः क्षीण दोषाः।''

– मण्डुक 3/1/5

2.3.4 – दर्शनों का काल – प्राचीन भारतीय दर्शनो में षड्दर्शन (छः दर्शन) महत्वपूर्ण है, वे है – सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, योग और वेदान्त महत्वपूर्ण है। जैन एवं बौद्ध दर्शन भी यौगिगक विचारधारा से सम्बन्धित दर्शनशास्त्र है। सांख्य दार्शन के वक्ता महर्षि कपिल, मीमांसा के वक्ता जैमिनी, न्याय के वक्ता महर्षि गौतम, योग दर्शन के वक्ता महर्षि पतंजलि, वेदान्त के वक्ता आचार्य शंकर, जैन दर्शन के वक्ता महावीर और भगवान बुद्ध बौद्ध दर्शन के प्रणियता हैं। कणदि ने वैशेषिक दर्शन की रचना की।

- जैन दर्शन में ऋद्धा को 'सम्यक दर्शन' की संज्ञा देते हुए इससे तत्व प्राप्ति बतलायी है। यथा – ''तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग दर्शनम्।'' – तत्वार्थ सूत्र 1–2
- जैन दर्शन में यमो (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह) को पंचव्रतो की संज्ञा देते हुए इन्हे धारण करने का निर्देश दिया गया है। ''ब्रहमचर्येण तपसा देवाः मृत्युमपाहनता।''
- जैन मत के अनुसार ब्रहमचर्य के तप के द्वारा ही देवताओ को मृत्यु पर विजय प्राप्त की है। ब्रहमचर्य का वर्णन तत्वार्थसूत्राधिगमभाष्य 9•6 में भी मिलता है।
- जैन आचार्य हरिभ्रद सूरि में योग की आठ दृष्टियॉ बतायी है। यथा :– ''मित्रा तारा बला दीप्ता स्थिरा कान्ता प्रथा परा नामानि योगदृष्टिनां।''
- योग की ही भॉति जैन दर्शन में मिथ्यादर्शन (अविद्या) को बंधन बताते हुए समग्र कर्मो से मुक्त होकर मोक्ष द्वार अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का वर्णन है।
- मैत्रायण्युपनिषद (6/25) में भी प्राण मन, इन्द्रियो को वाह्य विषयो विमुख कर इन्द्रियो को मन में और मन को आत्मा में लगाकर प्राण को साधने को कहा गया है। यथा :–

  ''एकत्वं प्राण मनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
  सर्वभाव परित्यागों योग इत्याभिधीयते।।''

  – मैत्रायण्युपनिषद 6/25
- उपनिषदो में यम – नियम के विभिन्न अंगो का वर्णन मिलता है। बृहदारण्यकोपनिषद में यज्ञ, दान एवं तप से ब्रहम (आत्मतत्व) को जानने को कहा गया है।
  यथा :– ''ब्रहमण विविदषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा।''

  – बृहदारण्यकोपनिषद 4/4/22।
- वही शाण्डिल्योपनिषद (1/1) में आठ आसनो स्वस्तिकासन, पद्यमासन, गोमुखासन, सिद्धासन, सिंहासन, भद्र और मयूर को परिभाषित किया है, और इन्हें आसानान्यष्टौ की संज्ञा दी है।
- मण्डुकपनिषद (2/2/3) में 101 नाड़ियो का वर्णन है तथा दर्शनोपनिषद तीन में 7200 नाड़ियो का वर्णन है। जिसमें 14 नाड़ियो को प्रमुख बतालाया गया है। दर्शनोपनिषद (6/11/12) में नाड़ी शुद्धि को महत्वपूर्ण बताया गया है।
- ध्यानबिन्दुपनिषद श्लोक 65 – 68 में कुण्डिलिनी के उर्ध्वगमन द्वारा सुषुम्ना का भेदन काके मोक्ष प्राप्त करने की बात कही गयी है।

अतः उपनिषद में योग का बोधगम्य एवं अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। उपनिषद यह संदेश देते है कि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को जानना और उसे अपने जीवन में उतारना मानव जीवन का परम धर्म है।

''बन्धहेत्वभावनिर्जरायाम।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।।''

– तत्वार्थसूत्र 10.5.3।

- **बौद्ध दर्शन –** इस प्रकार बौद्ध दर्शन में अष्टांग योग के समान ही अर्याष्टिगिक मार्ग का वर्णन है, और यम के समान पंचशील के सिद्धान्त का वर्णन है। बौद दर्शन में योगागो को आसन, प्राणायाम, ध्यान का भी वर्णन प्राप्त होता हैं। जिस प्रकार विभूतियॉ योग मार्ग का उन्नति में बॉधक है, ठीक उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में शिष्यो के चमत्कारिक प्रदर्शन उनके निर्वाण में बॉधक

माने गये है। बौद्ध दर्शन में योग की ही भॉति ही ब्रहम तत्व का ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश है, और इसे निर्वाण की संज्ञा दी गयी हैं।

- **वेदान्त दर्शन –** योग की भॉति ही वेदान्त में ब्रहम को सीमारहित माना गया हैं।

''नात्मा शरीरसम्बन्धो शरीरमपि नात्मनि।
मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा।।''
– योग वशिष्ठ 6.1.6.6।

अर्थात् आत्मा शरीर से कोई सम्बन्ध नही होता, वह सामान्य और विशेष से रहित है। जब व्यक्ति यह भेद जान लेता है। तो वह ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त कर लेता हैं। वेदान्त के साधन चतुष्टय (नित्य–अनित्य, वस्तु विवेक, वेराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षत्व) को साधन बनाकर ब्रहम ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश दिया है। ये साधन योग में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग के समान है।

ब्रहम सूत्र (4/1/7) में 'आसीनः सम्भवात।' में आसन में बैठकर उपासना करने को कहा गया है। वही ब्रहम सूत्र में 'ध्यानाच्च' में चेष्टारहित होकर चित्त को एकाग्र करने का निर्देश हैं।

- **सांख्य दर्शन –** सांख्य वक्ता महर्षि कपिल ने सांख्य सूत्र 3/30 में 'रागोपहितिध्यनिम्' में ध्यान का वर्णन किया है।

'धारणासनस्वकर्मणातत्सिद्धि' (सांख्य सूत्र 3/32) में धारणा और अन्य यौगिक कर्मो द्वारा वृत्ति निरोध समाधि को प्राप्त करने का आदेश दिया है।

'निरोछदिविधारणाभ्याम्।' (सांख्य सूत्र 3/33) इस सूत्र में प्राणायाम की उपयोगिता सिद्ध होती है।

- **न्याय दर्शन –** न्याय दर्शन में यम, नियमो और अन्य आध्यात्मिक विधि द्वारा आत्मा के संस्कार की बात कही है। यथा –

'तदर्थ यमनियमाभ्यात्मसंस्कारो योगाक्चाध्यात्म विध्युपाये।' – न्याय सूत्र 4/2/46।

इस प्रकार अभ्यास द्वारा समाधि की प्राप्ति का निर्देश हैं।

यथा – 'समाधि विषेषाभ्यासात।' – न्याय सूत्र 4/2/38।

- **वैशेषिक दर्शन –** वैशेषिक दर्शन में महर्षि कर्णाद योग से मन के संयोग द्वारा आत्मासाक्षात्कार का वर्णन करते है। यथा – 'तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्।' वैशेषिक सूत्र 9/1/12। वही योग सूत्र में महर्षि पतंजलि योग हेतू अभ्यास और वैराग्य, क्रियायोग और अष्टांग योग का वर्णन क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के साधको हेतु प्रशस्त है।

दर्शनो का काल चौथी शताब्दी तक चला। चौथी शताब्दी के बाद से टीका ग्रन्थो का काल आरम्भ हुआ।

2.3.5 – टीकाकाल – टीका काल का समय चौथी शताब्दी से 10वीं शताब्दी तक माना गया है। इस काल पर विभिन्न दर्शो से सम्बन्धित अनेक भाष्य, व्याख्या, वार्तिक और टीकाएँ लिखी गयी। इसके द्वारा सूत्रों की जटिलता दूर हुई। इस काल में मीमांशा दर्शन में कुमारिलभट्ट और प्रभाकर ने मीमांशा भाष्य लिखा। इसी तरह वेदान्त दर्शन में शंकर और रामानुजप्रभृति ने वेदान्त भाष्य लिखा। सांख्य दर्शन में विज्ञान भिक्षु ने सांख्य प्रवचन भाष्य लिखा। न्याय सूत्र पर वात्स्यायन ने न्याय भाष्य लिखा। इसी तरह योग से सम्बन्धित महत्वपूर्ण दर्शन योग दर्शन पर भाष्य ने योगभाष्य लिखा। ये भाष्य सूत्रो के समान ही महत्वपूर्ण स्थान रखते है। क्योकि सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त रूप में होने के कारण सामान्य व्यक्तियो के लिए इसके उचित अर्थ को समझना आसान नहीं था। परन्तु भाष्य सूत्र के उपयुक्त अर्थ को अत्यन्त सरल रूप में प्रस्तुत करता है।

विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति मिश्र, भोजदेव, नागोजी भट्ट आदि ने ही टीका काल में ही अपनी महत्वपूर्ण भाष्य एवं टीकाएँ लिखी। इसके अन्य दार्शनिक विचारको द्वारा अनेक उपयोगी ग्रन्थ, टीकाएँ

और भाष्य की रचना इसी काल में की गयी। इसी कारण इसे भारतीय दर्शन का स्वर्णयुग भी कहा जाता है।

2.3.6 – भक्ति एवं हठयोग का उत्कर्ष काल – लगभग 10वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक भक्ति एवं हठयोग के उत्कर्ष का काल माना गया है। भक्ति द्वारा ब्रहम प्राप्ति और हठयोग की विभिन्न क्रियाओ का प्रचलन इसी काल में हुआ। भक्ति से तात्पर्य ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम से है। इसी काल मे मीरा, रसखान, चैतन्य महाप्रभु, कबीर दास, तुलसीदास, सूरदास की भक्ति की धारा अत्यन्त प्रचलित हुई।

हठ योग में चन्द्र स्वर और सूर्य स्वर के मिलन से सुषुम्ना द्वारा सोई हुई कुण्डिलिनी को उर्ध्वगमित किया जाता है। कुण्डलिनी जागरण हेतू हठ योग के सप्तांगो का प्रचार – प्रसार इसी काल में हुआ। इसी काल में नाथ परम्परा प्रचलित हुई तथा नव नाथ, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालन्धर नाथ, गोरक्ष नाथ, चर्पटी नाथ, कानिफा नाथ भर्तृहरि नाथ, गोपीचन्द्र नाथ को नाथ सम्प्रदाय का महान प्रतिनिधि माना गया। तन्त्र योग का उदय भी इसी काल में हुआ। इसी काल में अनेक कुप्रथाएँ अन्धविश्वास आदि समाज में व्याप्त हो गये। भारत के आश्रमो, संस्थानो, ग्रन्थो, परम्पराओ का इस्लाम और ईसाई आक्रमणों द्वारा विध्वन्स हो गया।

2.3.7 – आधुनिक काल – यह पुनरूत्थान का काल माना जाता है। इस काल का आरम्भ 19वीं शताब्दी से हुआ। यद्यपि भारत अति प्रीान काल से ही अपनी एक विशिष्ट आध्यात्मिक छवि आध्यात्म के कारण ही बनाये रखने में सफल रहा है। प्राचीन काल से ही अनेको छोटे –बड़े आध्यात्मिक सम्प्रदाय यहॉ पुष्पित व पल्लवित होते रहे है। ये सम्प्रदाय बहुत कम सिद्ध योगियो या तपस्वियो के संरक्षण में योग शिक्षा के प्रचार – प्रसार में लगे रहते थे।

14वीं व 15वीं शताब्दी में योग के सन्दर्भ में अनेको भ्रान्तियॉ फैलाने की कोशिश की गयी। परन्तु भारत वर्ष ऐसा सौभाग्यशाली देश है, जब – जब यहॉ धर्म की हानि हुई या यहॉ विकृतियॉ उत्पन्न हुई (विशेषतः योग या आध्यात्म के क्षेत्र में) तब कोई ना कोई महापुरूष उत्पन्न होते रहे, और सही मार्गदर्शन करते रहे। इन्ही महापुरूषो की श्रेणी में स्वामी कुवल्यानन्द जी, स्वात्माराम जी, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी लक्ष्मणानन्द जी आदि ने योग परम्परा को आगे बढ़ाया। स्वामी कुवल्यानन्द जी ने कैवल्य धाम नामक संस्था का निर्माण किया। स्वामी शिवानन्द जी ने दिव्य जीवन संघ की संस्थापना की। स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी ने, 1956 में अन्तर्राष्टीय योग मित्र मण्डल की स्थापना कर योग संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने का, व योग शिक्षा के प्रचार –प्रसार का बीड़ा उठाया। विश्व के मानव को योग परम्परा से अवगत कराने के लिए परमहंस सत्यानन्द जी द्वारा ही 1963 में बिहार योग विद्यालय की स्थापना की। अपनी विशिष्ट योग प्रशिक्षण पद्धति के कारण यह एक ख्याति प्राप्त संस्था है, जो देश विदेशो में योग विद्या को वैज्ञानिक कसौटियों पर अनुसन्धान करके योग विद्या को नयी दिशा दे रही है। इसी प्रकार योगी श्यामाचरण लाहिड़ी जी ने क्रियायोग विधि के माध्यम से प्रचार – प्रसार किया।

आचार्य श्रीराम शर्मा जी ने हरिद्वार में शान्तिकुंज व देवसंस्कृति विश्वविद्यालय व ब्रहमवर्चस्य की स्थापना कर योग के ज्ञान व विज्ञान को विश्वव्यापी पहचान दी। योग की विविध प्रक्रियाओं कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मन्त्रयोग, नादयोग, हठयोग के साथ – साथ यज्ञ चिकित्सा, जड़ी – बूटी चिकित्सा पर अनेको अनुसन्धान ब्रहमवर्चस्व व देव संस्कृति विश्वविद्यालय में हो रहे है। आज अनेको विश्वविद्यालयो व संस्थानो में योग शिक्षा विभिन्न पाठ्यक्रम चल रहे है। जिसमे योग में प्रमाण पत्र, डिप्लोमा, स्नात्कोत्तर व पी0 एच0 डी0 आदि पाठ्यक्रम संचालित हो रहे है। अब योग विषय को अध्ययन, अध्यापन हेतू विश्व विद्यालय अनुदान आयोग (यू0 जी0 सी0) ने भी स्वीकृति प्रदान कर दी है।

स्वामी रामदेव जी ने योग का प्रचार – प्रसार विश्व में जन – जन तक पहुॅचाकर स्वास्थ्य के क्षेत्र में जन मानस को जागरूक किया हैं। उन्होने पतंजलि योगपीठ की स्थापना कर ऋषिकुल पद्धति पर आधारित शिक्षा पद्धति का प्रारम्भ किया है। वर्तमान में योग के प्रचार – प्रसार में तथा योग शिक्षा

के द्वारा शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतू अनेको संस्थान अनवरत चल रहे है, जो निम्न है। कैवल्यधाम, विहार योग भारती, योगदासंत्संग सोसाइटी, पतंजलि योगपीठ, विवेकानन्द योग संस्थान, मोराजी देसाई, राष्ट्रीय योग संस्थान दिल्ली, अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी, गुरूकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय, देव संस्कृति विश्व विद्यालय, उत्तराखण्ड मुक्त विश्व विद्यालय, कुमॉऊ विश्व विद्यालय, गड़वाल विश्व विद्यालय आदि।

अभ्यास प्रश्न –

क. योग के आदि वक्ता कौन है ?

अ. महर्षि पतंजलि ब. हिरण्यगर्भ

स. महर्षि कपिल द. स्वामी सत्यानन्द

ख. षड्दर्शनो की संख्या कितनी है ?

अ. 6 ब. 7

स. 10 द. 11

ग. सातवे हिरण्यगर्भ कौन है ?

अ. प्रजापति ब्रहमा ब. ऊर्जा ऋषि

स. सूर्य द. इनमें से कोई नहीं

घ. आधुनिक काल का आरम्भ कब हुआ ?

अ. 10वीं शताब्दी ब. 19वीं शताब्दी

स. 5वीं शताब्दी द. 12वीं शताब्दी

2.4 सारांश

प्रिय विद्यार्थियो प्रस्तुत ईकाई का अध्ययन करने के बाद आप समझ गये होगें कि योग विद्या वह ब्रहम विद्या है। जो सातवे हिरण्यगर्भ स्वयंभू ब्रहमा जी द्वारा प्रणीत है। वेदो में योग का विस्तृत वर्णन किया गया है। वेदो में वर्णित योग को ही सरल भाषा में उपनिषद में ही वर्णन किया गया है। स्मृति में, पुराणों में, दर्शन में योग का विस्तृत वर्णन मिलता है। दर्शन में समाधि की सिद्धि के लिए कहिं अभ्यास व कहिं यम, नियमो व आध्यात्म विधि के उपायो का वर्णन किया गया है।

2.5 शब्दावली

- अविच्छिन्न – सतत्, निरन्तर
- आर्ष – प्राचीन ग्रन्थो के लिए उपयुक्त शब्द
- वाग्मय – वचन सम्बन्धी, वचन से किया हुआ साहित्य
- अपौरूषेय – पुरूष की सामर्थ्य से बाहर
- सप्तांग – सात अंग, सप्तसाधन
- अपराजेय – जो पराजित ना हो
- महत् तत्व – बुद्धितत्व, जीवात्मा
- आरण्य – जंगलो में लिखे साहित्य
- स्मृति – स्मृति पर आधारित साहित्य

- श्रुति – सुन कर लिखे गये साहित्य

2.6 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

1. क– ब, ख– अ ग– अ घ– ब।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सरस्वती विज्ञानानन्द(2003), योग विज्ञान।योग निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।
2. कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।
3. निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।
4. पाण्ड़ेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली
5. व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।
6. योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।
7. मिश्र चन्द्र जगदीश (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।
8. योगांक – गीता प्रेस गोरखपुर।
9. पाण्डेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

2.8 निबंधात्मक प्रश्न

1 योग के आदि वक्ता हिरण्यगर्भ का जीवन परिचय दीजिए।
2 योग के वैदिक काल व उपनिषद काल का विस्तृत वर्णन करें।
3 जैन दर्शन व वौद्ध दर्शन में योग के स्वरूप की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।
4 उपनिषदो का मुख्य विषय योग विद्या है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

इकाई – 3 योग के प्रकार – ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 योग के प्रकार – ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग

3.4 ज्ञानयोग क्या है

3.4.1 ज्ञानयोग का उद्देश्य

3.4.2 ज्ञानयोग की साधना

3.5 कर्मयोग

3.5.1 कर्मयोग का उद्धेश्य

3.5.2 कर्मयोग के भेद

3.6 भक्तियोग

3.6.1 भक्तियोग का उद्धेश्य

3.6.2 भक्ति के विविघ रूप

3.6.3 भक्त के प्रकार

3.7 सारॉश

3.8 शब्दावली

3.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों इससे पूर्व की इकाईयों में आपने योग का अर्थ परिभाषा व संक्षिप्त इतिहास का अध्ययन किया। आप योग का अर्थ व इतिहास से भलीभॉति परिचित हो चुके होंगे। अब आप समझ गये होगें कि हमारे जीवन के सर्वांगीण विकास में योग की क्या उपयोगिता है। योग द्वारा किस प्रकार मनुष्य सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति के साथ – साथ मोक्ष तक की प्राप्ति कर सकता है। उन साधन पद्धतियो को अपना कर जीवन की उत्कृष्टता को प्राप्त कर सकता है। जिन साधन पद्धतियो को अपना कर हमारे श्रषि मुनियों ने आत्मोत्कर्ष कर समाधि, कैवल्य की प्राप्ति की। इस योग विद्या का और विस्तृत अध्ययन करने के लिए योग के प्रकारो का अध्ययन करना आवश्यक है। योग के कई प्रकार हैं। इनमें से कुछ महत्तवपूर्ण प्रकार है। ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग। आइये इनका अध्ययन करें।

जिज्ञासु पाठको प्रस्तुत इकाई में हमारे अध्ययन का विषय है, योग के प्रकार – ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। योग के विभिन्न प्रकार या योग के विभिन्न मार्ग परन्तु सभी का लक्ष्य है। उस परम तत्व की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति। किसी भी मार्ग को अपनाया जाए, सभी मार्ग वही पहुॅचते है। ज्ञानयोग, ज्ञानमार्ग द्वारा सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति है। तथा कर्मयोग निष्काम कर्म द्वारा ईश्वर की प्राप्ति तथा ईश्वर के प्रति उत्कृष्ट प्रेम ही भक्तियोग है। प्रिय पाठको कर्म, भक्ति ज्ञान का समन्वय हमारे जीवन को उत्कृष्ट व दिव्य बनाता है। आइये इसका विस्तृत अध्ययन कर जीवन में उत्कृष्टता लाने का प्रयास करें –

प्रिय विद्यार्थियो पूर्वोक्त कथन का अध्ययन करने के पश्चात् आपके मन में विभिन्न प्रकार की जिज्ञासायें उत्पन्न हो रही होगी –

- ज्ञानयोग की साधना क्या है?
- कर्मयोग की साधना क्या है?
- भक्तियोग की साधना क्या है?
- क्या इन साधनाओं को हम भी अपने जीवन में अपना कर जीवन को उत्कृष्ट बना सकते है?

आदि आपकी इन्हीं जिज्ञासाओं का समाधान इस इकाई में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आइये सर्वप्रथम योग के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन करें –

3.2 उद्देश्य

प्रिय पाठको प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- योग के विभिन्न प्रकारो को समझ पायेगें।
- ज्ञानयोग को स्पष्ट कर सकेगें।
- कर्मयोग, भक्तियोग को स्पष्ट कर सकेगें।
- कर्म, भक्ति, ज्ञान की महत्ता को समझ सकेगें।

3.3 योग के प्रकार

प्राचीन काल से ही भारतीय मनीषियों के अन्तःकरण में योग की विमल मन्दाकिनी परम्परागत रूप से पवित्र धारा के रूप में अविरल अनवरत प्रवाहित होती आ रही है। यह योग विद्या ब्रहम विद्या ब्रहमा द्वारा निर्दिष्ट तथा हमारे ऋषियों तपस्वियों तथा दार्शनिकों के द्वारा अपनायी गयी श्रेष्ठ साधना पद्धति है।

महर्षि पतंजलि कृत योग सूत्र का प्रथम सूत्र 'अथयोगानुशासनम्'। – पा0 यो0 सू0 1/1

जिसका अर्थ है, कि आपके जीवन का वह मंगल वाचक क्षण आ गया है। जिसमें कि शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के साथ – साथ मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। या इसको इस तरह से समझ सकते है, कि अब आपको एक निश्चित कार्य व्यवस्था का अनुसरण करना होगा और वह निश्चित कार्य व्यवस्था योग है, और इस योग पद्धति को अपनाने के लिए हमे सबसे पहले अनुशासित जीवन की आवश्यकता होती है। अनुशासन स्वयं पर शासन स्वयं के प्रति कठोरता। यही कठोरता हमें स्थिरता देती है। योग के द्वारा चित्त की शुद्धि, इन्द्रिय संयम तथा स्थिरता, लधुता, शारीरिक व मानसिक शान्ति की प्राप्ति होती है।

प्रिय विद्यार्थियो योग के मार्ग में साधन प्रणालियॉ भिन्न है। भिन्न – भिन्न होने पर सभी का लक्ष्य या ध्येय है मोक्ष की प्राप्ति। या कह सकते है कि सभी के द्वारा समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति के साथ – साथ मोक्ष प्रदायी है। प्रिय विद्यार्थियों इसको इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे एक पर्वत के शिखर पर चढ़ने के कई मार्ग होते है। सभी का लक्ष्य है पर्वत का शिखर। हम जिस भी मार्ग से जाऐगे वह चोटी पर अवश्य पहुॅच जाता है। जो जिस मार्ग को अपनाता है। वही मार्ग से उसका नाम जुड़ जाता है। ठीक उसी प्रकार जिस साधना मार्ग को अपनाते है, उसी के अनुसार भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग या कर्मयोग साधनाए निर्धारित होती है। परन्तु लक्ष्य सभी का एक ही है। योग साधना के इन्ही विभिन्न मार्गो के नाम है – ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, राजयोग आदि। इनमें से प्रमुख का वर्णन इस प्रकार है। आइये हम ज्ञानयोग, भक्तियोग व कर्मयोग का विस्तृत अध्ययन करे।

3.4 ज्ञानयोग क्या है

प्रिय विद्यार्थियों हम इससे पूर्व में भी वर्णन कर चुके है। कि योग के क्षेत्र में साधक का जो भी मार्ग होता है। अर्थात् वह जिस प्रकार के साधनो को अपनाता है। उनका प्रयोग करता है। उन्ही के अनुरूप उसकी साधना का नाम होता है। अतः प्रिय पाठको यदि ज्ञान साधना के साधनो का प्रयोग किया जाए तो वह मार्ग ज्ञानयोग कहलायेगा। ज्ञानयोग वह साधना है जिसमें सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति ज्ञान मार्ग द्वारा होती है। वह सभी साधनाए जिसमें ज्ञान को माध्यम बनाकर लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है, उन्हे ज्ञानयोग कहते है।

श्रीमद्भगवद् गीता में ज्ञानयोग को ही सांख्ययोग कहा गया है। गीता में मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान की महत्ता का वर्णन किया गया है।

ज्ञानयोग द्वारा ब्रहम से साक्षात्कार हो जाता है। यह ज्ञान की अन्तिम व उच्चतम अवस्था है। जिससे साधक में 'अहं ब्रहमास्मि' का भाव जाग्रत होने लगता है।

ज्ञानयोग के अनुसार – ब्रहम ही सत्य है। ब्रहम के अतिरिक्त अन्य किसी की महत्ता इस संसार में नहीं है। ज्ञानयोग के अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप ब्रहम है। और एक ब्रहम ही सत्य स्वरूप है। ज्ञानयोग के सिद्धान्तो के अनुसार आत्मा शुद्ध, बुद्ध, सत्य, नित्य, आनन्दस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप है।

3.4.1 – ज्ञानयोग का उद्धेश्य – ज्ञानयोग की साधना का उद्धेश्य है ब्रहमभाव की स्थिति को प्राप्त करना तथा यह ब्रहम भाव की स्थिति ही मोक्ष है। ज्ञानयोग के अनुसार जीव तथा ब्रहम की एकता का ज्ञान होना ही मोक्ष है। ज्ञानयोग विवेक ज्ञान की प्राप्ति है। जिसके द्वारा सही – गलत का ज्ञान होता है। नित्य – अनित्य का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य जीवन के उद्धेश्य को प्राप्त करना ही ज्ञानयोग का उद्धेश्य है। ज्ञान द्वारा ही मनुष्य देह देवालय बन जाती है। मनुष्य जन्म सफल हो जाता है। क्योकि मनुष्य जन्म साधना के लिए मिला है। साधना मनुष्य योनि में ही की जा सकती है। अन्य योनियों में नही, ज्ञानयोग द्वारा मनुष्य जन्म सार्थक बनाया जा सकता है। नित्य – अनित्य, पाप – पुण्य, सुख – दुख, खाद्य – अखाद्य पर विचार कर शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक स्वास्थ्य की प्राप्ति की जा सकती है। अतः ज्ञानयोग का उद्धेश्य है, समग्र स्वास्थ्य के साथ – साथ मोक्ष की प्राप्ति। अतः आइये

हम ज्ञानयोग साधना है क्यॉ ? यह कितने प्रकार की है। इनके दोनों बर्हिरंग व अन्तरंग साधना का विस्तृत अध्ययन करें।

3.4.2 – ज्ञानयोग की साधना – ज्ञानयोग की साधना ज्ञान मार्ग के द्वारा सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति है। ज्ञानयोग का वर्णन उपनिषदो में ध्यानात्मक अवस्था के रूप तथा अर्न्तज्ञान क्षमता को विकसित करने वाले साधनो के रूप में किया गया है। ज्ञानयोग एक विद्या है, एक ऐसा विवेक ज्ञान है। जिसके द्वारा मनुष्य को सही गलत का ज्ञान प्राप्त होता है। अर्न्तज्ञान प्राप्त होता है। अतः कहा जा सकता है, ज्ञानयोग ध्यान द्वारा सजगता की प्राप्ति है। ज्ञानयोग ऐसी सजगता की प्राप्ति है, जो मनुष्य को अपने अन्तर में उतार देती है। अर्न्तज्ञान की ऐसी प्राप्ति है, जो उस अवस्था तक पहुॅचा देती हैं। जहॉ यह भाव जाग्रत होता है। 'अहं ब्रहमास्मि' इस अवस्था में साधक स्वयं को ईश्वर (ब्रहम) के रूप में जान पाता है। और ईश्वर (ब्रहम) का बोध होते ही वह उन सभी बन्धनो से मुक्त हो जाता है। ज्ञानयोग हमे अपनी अर्न्तज्ञान, विशिष्टता के प्रति सजग होने की योग्यता है। इस अर्न्तज्ञान के पाते ही मन के बन्धन टूट जाते है। और अपने स्त्रोत के निकट आते है। ज्ञानयोग का यौगिक दृष्टिकोण अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करना है। तथा इस प्रक्रिया का आरम्भ शरीर तथा मन की आवश्यकताओं से होकर आध्यात्मिक में परिवर्तित हो जाता है। ज्ञानयोग की साधना में अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मुख्यतः दो साधनो का वर्णन किया गया है। स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती ने इसे इस प्रकार बताया है –

- बर्हिरंग साधना
- अन्तरंग साधना

बर्हिरंग साधना –ज्ञानयोग की साधना में कुछ बातो का पालन आवश्यक बताया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में जिन बातो का पालन आवश्यक है। उसे बर्हिरंग साधन कहा गया है। बर्हिरंग साधनो को साधन चतुष्टय का नाम दिया गया है। बर्हिरंग साधन चार है। ये साधन निम्न लिखित है –

(क) – विवेक

(ख) – वैराग्य

(ग) – षट्सम्पत्ति

(घ) – मुमुक्षुत्व

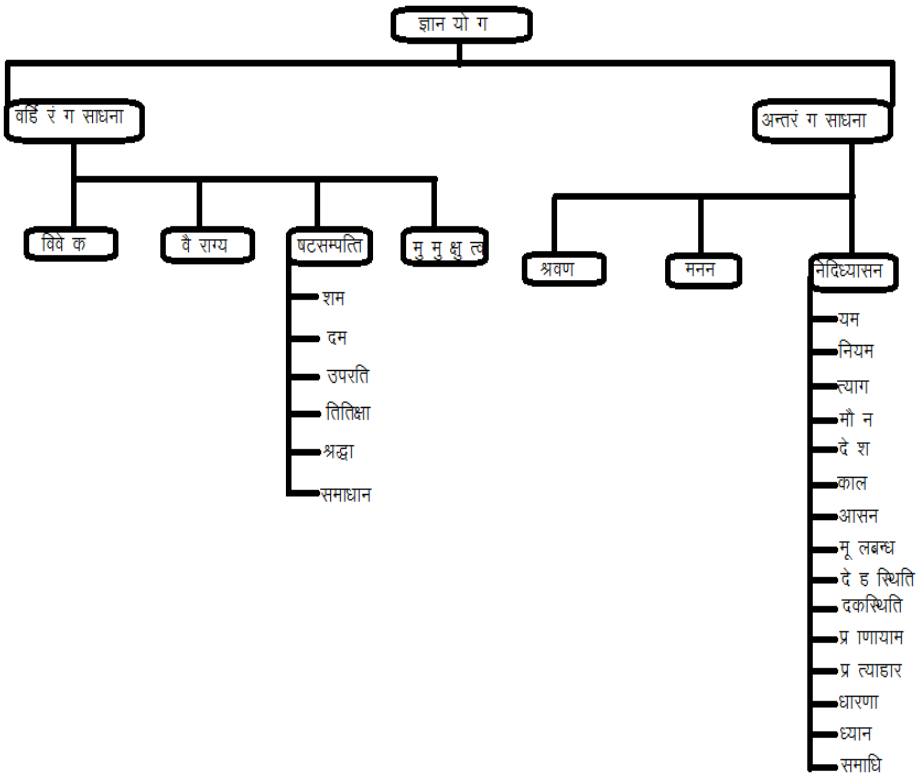

(क). विवेक – प्रिय पाठको ज्ञानयोग के बर्हिरंग साधन में पहला साधन है विवेक। विवेक एक दिव्य शक्ति है। उस मनुष्य का कभी पतन नही हो सकता है। जिसने विवेक का सहारा लिया। विवेक द्वारा अपने कार्य किये हो, यह एक ऐसा दिव्य शक्ति है। जिससे मनुष्य जीवन में सकारात्मक परिवर्तन होते देखे गये है। और विवेकहीन मनुष्य ही हमेशा दुखी व अस्वस्थ देखे जाते है। लौकिक दृष्टिकोण से सही – गलत का ज्ञान होना ही विवेक है। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से यदि देखे तो विवेक का तात्पर्य नित्य, अनित्य का ज्ञान है।

तत्वबोध में वर्णन मिलता है –

"नित्यवस्त्वेकं ब्रह्म तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम्।

अयमेव नित्यानित्यवस्तु विवेकः।।"

अर्थात् एकमात्र ब्रहम ही नित्य है। और समस्त जगत् अनित्य है। ब्रहम के सिवा यह जगत मिथ्या हैं। कहा भी गया है, कि 'ब्रहम सत्यं जगतमिथ्या'।

प्रिय पाठको विवेक ज्ञान वह ज्ञान है। कि एक ब्रहम ही सत्य है, अजर है, अमर है, तथा यह संसार नश्वर है। अतः जागतिक विषयों या इस संसार के प्रति राग न रखते हुए उस ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधना करनी चाहिए। उस ईश्वर की प्राप्ति के लिए साधक को विवेक की आवश्यकता होती है, कि इस मार्ग में चलने के लिए आहार, विहार, व्यवहार की शुद्धि होना आवश्यक है। शरीर संशुद्धि के लिए आहार रूपी विवेक ज्ञान आवश्यक है, कि क्या खाना चाहिए क्या नही। शास्त्रों में कहा भी गया है। कि 'जैसा खाये मन वैसा होवे मन'। अर्थात् जैसा हम अन्न खाते है वैसा ही हमारा मन हो जाता है। अतः उन्नति के लिए सात्विक आहार ग्रहण करना चाहिए। शास्त्रों में आहार संशुद्धि पर बल देते हुए कहा गया है कि भोजन किस प्रकार का है, तामसिक खाद्यपदार्थ तमोगुणी बनाते है। तथा अच्छे मन से या अच्छी भावनाओ से न बनाया गया भोज्य पदार्थ तामसिक वृत्ति उत्पन्न करता है। खाद्य – अखाद्य का ज्ञान साधक को रखना चाहिए। इस प्रकार संसारी वृत्तियो में आसक्ति न रखते हुए खाद्य –

अखाद्य तथा सत्य – असत्य के सही गलत का ज्ञान, को रखकर, ईश्वर को प्राप्त करना विवेक ज्ञान है।

(ख). वैराग्य – वैराग्य शब्द का सामान्य अर्थ है, बिना राग के। अर्थात् जिस मनुष्य को राग नहीं है, वह वैराग्य है। वैराग्य वह अवस्था है, जिसमे मनुष्य को विवेक ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् संसार के भोगों के प्रति आसक्ति नही रहती है, तथा पारलौकिक सुख ऐश्वर्य की भी आसक्ति नही रहती, इन दोनों इहं लौकिक तथा पारलौकिक सुख भोग की ईच्छा का परित्याग कर देना ही वैराग्य है। मनुष्य देखे गये तथा सुने गये दिव्य सुख भोगों से इच्छा रहित हो जाता हैं। तथा इन लोको के भोागो के प्रति वासना का उदय न होना ही वैराग्य है।

(ग). षट्सम्पत्ति – षट् सम्पत्ति का अर्थ है, छः साधन। ज्ञानयोग की साधना में ये छः साधनो का साधक को अवश्य पालन करना होता है। जब वह इन्हे जीवन में अपना लेता हैं, तब इन्हे साधक की षट्सम्पत्ति माना जाता है। ये षट्सम्पत्ति ऐसी है, जिनके सहारे ही योग साधना में आगे बड़ा जा सकता है। ये षट्सम्पत्तियॉ है –

1. शम
2. दम
3. तितिक्षा
4. उपरति
5. श्रृद्धा
6. समाधान

1.शम – इन्द्रिय निग्रह कर आत्मा को परमात्मा में लगाना शम है। ज्ञान द्वारा इन्द्रियो को संयमित कर अपने चित्त को आत्मा में लगाना शम है। इन्द्रिय संयम ज्ञान द्वारा किया जा सकता है। मनुष्य की 11 (इग्यारह) इन्द्रियॉ है। उसमें पॉच ज्ञानेन्द्रिया, पॉच कमेन्द्रियॉ और एक मन है। मन ही एक ऐसी इन्द्रिय है। जो सबसे अधिक चंचल है। वायु से भी तेज गति वाले इस मन को नियन्त्रित करना बढ़ा ही मुस्किल हैं। इस लिए इस मन का नाम अतेन्द्रिय है। जैसा की शास्त्रो में भी कहा गया है – 'समो नाम अन्तरिन्द्रिनिग्रहः अन्तरिन्द्रिय नाम मनः तस्य निग्रहः'।।

अर्थात् शम का तात्पर्य यहॉ अन्तरिन्द्रिय निग्रह कहा गया है। और वह अन्तरिन्द्रिय मन है। ओर इस मन के नियन्त्रित होते ही इन्द्रिय निग्रह सम्भव है। अतः इस मन को वश में करने के लिए अन्य शास्त्रो के साथ – साथ गीता में भी साधना बताई गयी है –

''असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहंचलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते।।''

अर्थात् ये महावाहो अर्जुन निश्चय ही यह मन बड़ा चंचल है। परन्तु इस मन को वश में करने के दो साधन है। 'अभ्यास' और 'वैराग्य'। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को अवश्य ही वश में किया जा सकता है। इन्द्रियो को इस प्रकार से निग्रह कर लेना ही 'शम' है।

2.दम – दम का अर्थ है, दमन करना। बाह्रय विषयो से इन्द्रियो को निग्रह कर लेना दम है। मनुस्मृति में कहा गया है –

''इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिशु।

संयमेयत्वमातिष्ठेद् विद्वान यत्नेश वाजिनाम्।।''

अर्थात् विवेकी पुरूष अनुचित कार्यो तथा विषयो में भागी जाने वाली इन्द्रियो को बड़े यत्न से नियन्त्रित कर लेता है। जैसे एक दक्ष सारथी पशु को लगभग खींच कर काबू कर लेता है तथा अपने अनुसार उसे मार्ग पर ले जाता है। ठीक उसी प्रकार दम रूपी लगाम से अनुचित मार्ग मे जाने वाली इन्द्रियो का निग्रह करके ब्रहम के चिन्तन में लगाये रखने वाली विद्या दम है।

3.उपरति – उपरति का तात्पर्य विरति हो जाना है। अर्थात् किसी भी वस्तु की प्राप्ति ही जाने पर भी उसमे आसक्त न होना उदासीन बने रहना उपरति है। उपरति सभी जागतिय, सासारिक वस्तुओं में अनासक्ति का भाव है। तथा कामनाओ को समाप्त कर इन्द्रियो के विषयो से हटाना ही अविरति है। आचार्य शंकर के अनुसार –

'जागतिक विषयो से राग रहित होकर तथा अपने – अपने धर्म का पालन कर अपने चित्त को निर्मल बनाकर अन्तरात्मा में लगाये रखना ही उपरति है।'

4.तितिक्षा – अपने ध्येय या लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के द्वन्द्वो को सहन कर लेना तथा साधना में तत्पर रहने का नाम तितिक्षा है।

तितिक्षा का शाब्दिक अर्थ है सहनशीलता। अपने साधना के मार्ग में आने वाले द्वन्द जय पराजय, लाभ हानि, सुख दुख तथा शीत व उष्ण को सहर्ष सहन करना ही तितिक्षा है। तितिक्षा व तप करने के लिए सभी द्वन्दो को सहन करने के लिए कहा गया है। जैसा कि वर्णन मिलता है –'तपो द्वन्द सहनम्।'

अर्थात् सभी प्रकार के शारीरिक व मानसिक द्वन्दो को सहन करना तप है। योग सूत्र में महर्षि पतंजलि ने वर्णन किया है – यही तितिक्षा है।

'कायेन्द्रियशिद्धिर शुद्धिक्षयात्तपसः।'

– 2/43 पा0 यो0 सू0

अर्थात् तप के प्रभाव से अशुद्धि का क्षय हो जाता है। शरीर शुद्ध तथा इन्द्रियॉ संयमित हो जाती है।

5.श्रद्धा – श्रद्धा नाम विश्वास का है। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों तथा वेद वाक्यो तथा गुरू वाक्यों में दृढ़ निष्ठा व विश्वास ही श्रद्धा है। शास्त्रों में कहा भी गया है –

'गुरूवेदान्तवाक्यादिशु विश्वासः श्रद्धा।'

अर्थात् अपने गुरू तथा वेद, पुराण, शास्त्रों के वाक्यों में दृढ़ विश्वास व आस्था ही श्रद्धा है। प्रिय विद्यार्थियो शास्त्रो में ही वर्णन मिलता है। कि जिस मनुष्य को गुरू वाक्य, वेद वाक्य में श्रद्धा नही रहती, संशय रहता है। उनका कभी भी उत्थान नही हो सकता है, पतन अवश्य होता है। अतः गुरू वाक्य और वेद वाक्य, शास्त्रो में श्रद्धा का होना अति आवश्यक है। ब्रहम ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा आत्मोत्थान के लिए।

6.समाधान – चित्त की एकाग्र अवस्था ही समाधान है। चित्त स्वभाव से चंचल है, परन्तु साधना तथा अपने ईष्ट की उपासना, जप, ध्यान के द्वारा चित्त को एकाग्र किया जा सकता है। तथा एकाग्र चित्त के द्वारा आत्मानुसन्धान में लगे रहना ही समाधान है। अपने चित्त को सदा ब्रहम चिन्तन में ही रत रखना ही समाधान है।

(घ). मुमुक्षुत्व – जागातिय विषयों से वैराग्य होने पर उस नित्य सुख की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति की तीव्र इच्छा मुमुक्षुत्व कहलाता है। तथा मुमुक्ष पुरूष परमात्मा से इस प्रकार के भाव व्यक्त करता है –

'संसार बन्धनिर्मुक्तः कथमेस्यात्कदाविभो।'

अर्थात् हे ईश्वर इस संसार चक्र रूपी बन्धन जिसमें कि बार – बार जन्म तथा मृत्यु होती है, से कब मुझे मुक्ति मिलेगी। इस प्रकार जन्म – मरण के बन्धन से मुक्त होकर परम् पद मोक्ष की प्राप्ति के लिए तीव्र उत्कण्ठा का होना ही मुमुक्षुत्व है।

अन्तरंग साधना –

ज्ञानयोग साधना में साधक चतुष्टय को बर्हिरंग साधना माना गया है। तथा अन्तरंग साधन श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को माना गया है। यह साधन तीन हैं – 1.श्रवण 2.मनन 3.निदिध्यासन।

1.श्रवण – श्रवण का अर्थ है सुनना। सुनने से तात्पर्य जो सनने लायक हो उसे सुनना। अर्थात ब्रहम ज्ञान के विषय में सुनना संशय रहित सुनना। तथा उसे गुरूमुख से संशय की निवृत्ति के लिए सुनना। इस प्रकार गुरूमुख से संशय रहित ब्रहमज्ञान के विषय में श्रवण करना 'श्रवण' कहलाता है।

2.मनन – ब्रहमविषयक श्रवण किया हुआ ज्ञान यथार्थ रूप में अपने अन्तःकरण में उतार लेना मनन है, या उस ब्रहम का निरन्तर चिन्तन, मनन कहलाता है। मनन से अस्पष्ट विषयों को स्पष्ट कर तथा संशय से रहित चिन्तन दृढ निश्चयात्मक हो जाता है। इस प्रकार गुरूमुख से सुने हुए ज्ञान निश्चयात्मक ज्ञान का बार – बार चिन्तन करना मनन कहलाता है।

3.निदिध्यासन – वेदान्त के अनुसार निदिध्यासन ही योग है। निदिध्यासन का अर्थ है, अनुभव प्राप्त ज्ञान या आत्मसाक्षात्कार। ज्ञानयोग में योगी ज्ञान अर्जित करने के साथ – साथ उसे अपने जीवन पर लागू भी करते है। वे ऐसे किसी ज्ञान को व्यर्थ मानते है जिन्हें वह अपने जीवन में उपयोग न कर सके। ऐसा ज्ञान जिसे वह अपने जीवन में उपयोग कर अनुभव कर सके ओर ऐसा अनुभवात्मक ज्ञान तथा बोध प्राप्त करना ही आधार है।

स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती ने निदिध्यासन के 15 अंगों का वर्णन किया है। जिनका वर्णन निम्न प्रकार है –

1.यम – विषयो के वशीभूत इन्द्रियों को अपने वश में करके ब्रहम चिन्तन में लगा देना यम है।

2.नियम – वह वृत्ति जो हमे परमात्मा से दूर करे उसे विजातीय वृत्ति कहा जाता है। विषयों से लिप्त वृत्ति विजातीय वृत्ति है। तथा ईश्वरोन्मुख वृत्ति सजातीय वृत्ति है। अतः विजातीय वृत्ति का निरोध करना ही नियम है।

3.त्याग – समस्त संसार के पदार्थ क्षण भंगुर है। यह जगत एक प्रपंच है। एक मायाजाल है, अनित्य है। तथा ब्रहम ही सत्य है। तीनों कालो से परे है अविनाशी है। इस प्रकार के ज्ञान से इस संसार के मायाजाल का, प्रपंच का त्याग हो जाता है। इसी को महापुरूष त्याग कहते हैं।

4.मौन – योग साधना में प्रजल्प (अत्यधिक वार्तालाप) को बाधक तत्व के रूप में बताया गया है। अतः अत्यधिक वार्तालाप न कर मौन धारण करना ही योगियों का मौन है। तथा इन्द्रियो को संयमित कर अपनी आन्तरिक ऊर्जा को ब्रहम चिन्तन में रमण कर देना ही मौन है।

5.देश – अपने अन्तकरण में किसी एक क्षेत्र (देश) में मन को लगा देना।

6.काल – यह ज्ञान रखना कि वह ईश्वर तीनो कालों से परे है। तीनो कालों में उनका नाश सम्भव नहीं है। वह अजर, अमर, अविनाशी है। वही कालों में महाकाल है।

7.आसन – वह अवस्था जिसमे सुखपूर्वक, निरन्तर बैठकर ब्रहम चिन्तन किया जा सके, वह आसन है। जिन आसनो में ध्यान के लिए सुखपूर्वक बैठा जा सके, वह ध्यान के आसन निम्न है – सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकआसन, सुखासन आदि।

8.मूलबन्ध – हठयोग के विपरीत यह ईश्वर के साथ चित्त का लगने वाला बन्ध है। क्योकि वह ब्रहम समस्त भूतो का मूल है। अतः उस ब्रहम के साथ चित्त का बन्ध ही यर्थाथ मूलबन्ध है। यह राजयोगियो के द्वारा अपनाया गया बन्ध है।

9.देहस्थिति – चित्त का ब्रहम में एकाग्र व निश्चल हो जाने पर देह व अंगो की स्थिति भी निश्चल व एकाग्र हो जाती है। यही चित्त व देह की साम्यता की स्थिति है।

10.दृक्स्थिति – दृष्टि को ज्ञानमय बनाकर समस्त संसार को ब्रहममय देखना। यह दृष्टि की उत्तम दृष्टि है। इस प्रकार 'ब्रहमौवेदं सर्वम्' वाली दृष्टि ही उत्तम दृष्टि है।

11.प्राणायाम – ज्ञानयोगियो द्वारा अपनाया गया प्राणायाम इस प्रकार है – श्वास भरते समय यह चिन्तन 'मैं ही ब्रहम हूँ' करना पूरक प्राणायाम है, उस वृत्ति की निश्चल स्थिति का नाम कुम्भक प्राणायाम है। तथा श्वास का रेचक करते समय इस जगत के प्रपंच का अभाव का भाव का नाम रेचक प्राणायाम है।

12.प्रत्याहार – प्रत्याहार का अर्थ है, इन्द्रिय संयम। इस संसार के विषयो में क्षणभंगुरता का निश्चय करके मन को अन्तर्मुखी बना लेना प्रत्याहार है।

13.धारणा – किसी भी देश में चित्त को एकाग्र करना या बाधना धारणा है। धारणा का वर्णन योगसूत्र में इस प्रकार है –

'देशबन्धश्चित्तश्य धारणा।'

– पा0 यो0 सू0 3/1

अर्थात् किसी भी देश (बाहय अथवा भीतर) में चित्त को बाध देना धारणा है। यह धारणा मध्यम व निम्न कोटि के साधको के लिए बताई गयी है। उत्तम अधिकारियो के लिए किसी भी अनात्म वस्तु में चित्त को न लगाकर चेतन तत्व में चित्त को लगाना ही धारणा है। वेदान्त सार के अनुसार –

'उस अद्वितीय वस्तु (ब्रहम) में मन, बुद्धि, चित्त आदि को बाध देना या लगा देना ही धारणा है।'

14.ध्यान – धारणा की परिपक्व अवस्था ही ध्यान है। ध्यान का वर्णन करते हुए योगी 'सदानन्द यति' ने वेदान्त सार में कहा है –

'तत्राद्वितीयवस्तुनिविच्छद्यान्तरिन्द्रिय वृत्ति प्रवाहोध्यानम्।'

– वेदान्तसार

अर्थात् उस अद्वितीय ब्रहमतत्व का चित्त का विभिन्न अवस्थाओं का होने पर भी लगातार एकतानता पूर्वक, एक समान वृत्ति का प्रवाहित होते रहना ध्यान कहा जाता है। अर्थात् ध्येय वस्तु में तेल की धारा के समान वृत्ति का प्रवाह चलते रहना ही ध्यान है।

15.समाधि – समाधि ध्यान की परिपक्व अवस्था है। योगदर्शन में समाधि का वर्णन करते हुए कहा गया है –

ध्यान में जब ध्येय मात्र की प्रतीति रहती है। तथा चित्त स्वरूप शून्य हो जाता है। वह अवस्था समाधि की अवस्था होती है। समाधि की परिभाषा करते हुए 'विद्यारण्य स्वामी' जी ने लिखा है –

'निर्वातद्वीपवच्चितं समाधिरभिधियते।'

अर्थात् वायु रहित स्थान के दीपक की तरह अचंचल चित्त की निश्चल अवस्था का नाम ही समाधि है।

अभ्यासार्थ प्रश्न –

(क) – ज्ञानयोग क्या है?

(ख) – विवेकज्ञान क्या है।

(ग) – तितिक्षा व मुमुक्षुत्व से क्या अभिप्राय है।

(घ) – निदिध्यासन से क्या समझते है?

3.5 कर्मयोग

प्रिय विद्यार्थियो यह सर्व विदित ही है। कि मनुष्य जैसा कर्म करता है। वैसा ही फल उसको भोगने को मिलता है। यह बात निश्चित है। इसी लिए संसार में वैषम्यता दिखाई देती है। कोई सुखी है, कोई दुखी। कोई अमीर, कोई गरीब। यह सब पूर्व जन्म संस्कारों के कारण होता है। कि मनुष्य को पूर्व जन्म

के संस्कारों के फल भोगने को मिलते है। उसके पश्चात् ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। इसका वर्णन महर्षि पतंजति ने योगसूत्र में इस प्रकार किया है –

'सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।'

– पा0 यो0 सू0 2/13

अर्थात् मनुष्य को क्लेशों के मूल, कर्म संस्कार के विध्यमान रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। तथा मनुष्य को जाति, आयु और भोग पूर्व जन्म में किए गये कर्मों के आधार पर ही प्राप्त होते है। यदि मनुष्य पूर्व जन्म में अच्छे कर्म करेगा तब वह इस जन्म में उच्च कुल, दीर्घायु व भोग (वैभव) को प्राप्त करता हैं। इस संसार में जो भी विषमता है। वह कर्म संस्कारों के कारण ही है, तथा कर्म संस्कारों के अनुसार ही मनुष्य सुख व दुख आदि क्लेश भोगते रहते है। अब प्रश्न ये उठता है कर्म है क्या ?

कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना हैं। 'कृ' धातु से बना है। 'क' धातु में 'मन' प्रत्यय लगाने पर कर्म शब्द की उत्पत्ति होती हैं। जिसका अर्थ है – क्रिया, हलचल, प्रारब्ध, भाग्य आदि है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस कर्म में कर्ता की क्रिया का फल निहित है वही कर्म कहलाते है। कर्म शब्द का तात्पर्य कार्य या अनुष्ठान से है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति कर्म करता है। संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो जो कार्य ना करे। संसार में प्रत्येक व्यक्ति कर्म करता है, तथा यही कर्म शब्द के साथ योग जोड़ देने से कर्मयोग बन जाता है। या इसे इस तरह से कह सकते है, जब कर्म कुशलतापूर्वक होने लगे तब समझना चाहिए कि कर्मो में योग साधना का प्रवेश हो चुका है। श्रीमद् भगवद् गीता में कहा गया है कि कर्मो में कुशलता ही योग है। कर्मो में योग ही कुशलता है। जब कर्म कुशलता पूर्वक होने लगे तब समझना चाहिए कि कर्मो में योग सन्निहित है। जिसका वर्णन 2/50 में किया गया है –

'योगः कर्मसु कौशलम्।'

– गीता 2/50

अर्थात् कर्मो में कुशलता ही योग है। कर्मयोग साधना में मनुष्य कर्म बन्धन में बधने वाले कर्म नही करता है। वह निष्काम भाव से कर्त्तव्य कर्म करते हुए फलासक्ति का त्याग करता है। इसलिए इस प्रकार के कर्म मुक्तिदायक होते है। गीता का मुख्य विषय निष्काम कर्म योग है। जिसे कर्मयोग कहा गया है। निष्काम कर्म योग का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं । आसक्ति रहित होकर कर्म का पालन करना चाहिए। कर्म करने के बाद में सफलता या असफलता मिले उसमें समता का भाव रखना चाहिए। यही समता का भाव ही कर्मयोग है। – 2/48 गीता

कर्मयोग की साधना में साधक सभी कर्मो को भगवान को समर्पित कर देता है। वह जो भी कर्म करता है। भक्ति भावपूर्वक वह परमात्मा को अर्पित करते हुए करता है। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है –

'यत्करोशि यद्श्रासि यज्जुहोसि ददासियत्।

– गीता 9/27

अर्थात् हे अर्जुन तू जो भी कर्म करता हैं। जो खाता है, हवन करता है, दान आदि देता है, जो भी तप करता है। वह सब मेरे अर्पण कर। श्रीमद् भगवद् गीता में निष्काम कर्म योग की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है। कि निष्काम भाव से कर्म करने वाला योगी परम् ब्रहम परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

3.5.1 – कर्मयोग का उद्धेश्य – कर्मयोग का उद्धेश्य है, श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति। श्रेष्ठ कर्म – प्रखर स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए विशिष्ट शारीरिक व मानसिक क्रियाओ का साग्रह अभ्यास ही कर्मयोग साधना है। कर्मयोग की साधना एक ऐसा मार्ग है, जिससे मनुष्य का लौकिक तथा पारलौकिक दोनो पक्षो का उत्थान सम्भव है। कर्मयोग की साधना अपने कर्त्तव्य कर्म को करते हुए

फलेच्छा का त्याग कर मुक्ति की प्राप्ति है। यही मुक्ति की प्राप्ति साधक कर्मो को कुशलता पूर्वक करते हुए प्राप्त कर सकता है। जिसका वर्णन करते हुए गीता में कहा गया है –

''बुद्धियुक्तो जहातींह उभे सुकृत दुष्कृते।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।'' – 2/50

अर्थात् बुद्धि से युक्त मनुष्य अच्छे व बुरे दोनो प्रकार के कर्मो में आसक्ति का त्याग कर देता है। ऐसे ही कर्म कुशल कर्म कहलाते है। कर्मो में कुशलता का यहॉ कर्मो को इस प्रकार करने से है, कि वे हमारे बन्धन का कारण ना हो बल्कि मुक्ति दिलाने वाले हो। कर्मयोग की साधना से नितान्त मलिन व कलुषित चित्त भी शुद्ध व निर्दुष्ट हो कर योगमय होकर मुक्ति को प्राप्त होता है। कर्मयोग की साधना के द्वारा अपने – अपने नियत कर्म करते हुए मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

3.5.2 – कर्मयोग के भेद – प्रिय विद्यार्थियों अभी तक आपने कर्म शब्द के अर्थ के साथ – साथ कर्मों की कुशलता, निष्काम कर्म के बारे में जाना तथा समझा साथ ही यह भी समझा लिया होगा कि ईश्वर को अपने समस्त कर्म अर्पण कर देने से परम गति की प्राप्ति होती है। अब शास्त्रों व गीता में वर्णित कर्म कितने प्रकार के है? उनका अध्ययन करें –

- कर्म मुख्य रूप से शास्त्रों के अनुसार दो प्रकार के होते है –

क – विहित कर्म (सुकृत)

ख – निषिद्ध कर्म (दुष्कृत कर्म)

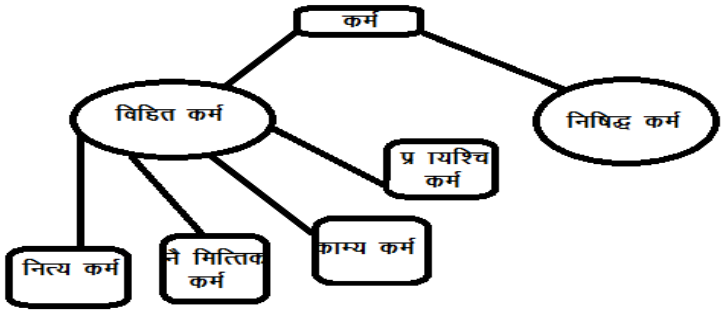

(क). विहित कर्म– विहित कर्म को सुष्कृत कर्म अर्थात् अच्छे कर्म भी कहा जाता है। विहित कर्म के भी चार भेद है – नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म, प्रायश्चित कर्म।

(अ). नित्य कर्म – नित्य कर्म से तात्पर्य नित्य प्रति किये जाने वाले अनिवार्य कर्म। अर्थात् वह कर्म जो प्रतिदिन अनिवार्य रूप से किये जाते है। जैसे – पूजा, सन्ध्या, वन्दना आदि। नित्य कर्म साधारण भाषा में यदि कहे तो वह कर्म है जो प्रतिदिन प्रातः से रात्रि निद्रा तक किये जाते है।

(ब). नैमित्तिक कर्म – ऐसे संस्कार (कर्म) जो किसी के निमित्त किये जाते है, नैमित्तिक कर्म कहते है। जैसे – किसी त्यौहार व पर्व पर विधि पूर्वक अनुष्ठान करना, पुत्र जन्म पर जातकर्म संस्कार तथा उपनयन संस्कार तथा किसी की मृत्यु होने पर दाह संस्कार, श्राद्ध कर्म, तर्पण इत्यादि।

(स). काम्य कर्म – कामना पूर्ति के लिए अनुष्ठान करना काम्य कर्म कहलाते है। ऐसे कर्म अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए किये जाते है। जैसे – पुत्र प्राप्ति के लिए पुत्रेष्ठि यज्ञ तथा धन वैभव व स्वर्ग की प्राप्ति हेतु, दान व यज्ञ किये जाते है। साथ ही प्राकृतिक आपदा, अतिवृष्टि रोकने हेतु, अकाल पड़ने पर वर्षा हेतु, यज्ञ, हवन, दान आदि कर्म काम्य कर्म हैं।

(द). प्रायश्चित कर्म – अज्ञानता वश या जानवूझ कर कोई भी अनैतिक कर्म या पाप हो जाये तो उसके प्रायश्चित के लिए जो कर्म किये जाते है, प्रायश्चित कर्म कहलाते है। जो इस जन्म में किये गये गलत कार्यो के प्रायश्चित स्वरूप किये गये कर्म है, वह साधारण प्रायश्चित कर्म है। जन्म – जन्मान्तरो के पापों को क्षीण करने के लिए तप व अन्य अनुष्ठान पूर्वक जो कर्म किये जाते है। वह असाधारण प्रायश्चित कर्म कहलाते है।

(ख). निषिद्ध कर्म – जिन कर्मो का शास्त्रों मे निषेद्ध है। निषिद्ध कर्म कहलाते है। अर्थात् जो कर्म शास्त्रों के अनुकूल नहीं है, वह निषिद्ध कर्म कहलाते है। निषिद्ध कर्म ऐसे गलत कर्म है जिन्हे करने पर हमारी अन्तर आत्मा भी स्वीकृति नही देती है। पर मनुष्य इस अन्तर आत्मा (ईश्वर) की उस आवाज को अनसुना कर वह कर्म करता है, तथा यही कर्म निषिद्ध कर्म कहलाते है। इन कर्मो के अन्तर्गत – झूठ बोलना, व्यभिचार, हिंसा, चोरी इत्यादि गलत कर्म (निषिद्ध कर्म) आते है।

वेदान्त के अनुसार कर्म – वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्मों के तीन प्रकार हैं।

(क). संचित कर्म – संचित कर्म वे कर्म है। जो पूर्व जन्म में हमने अनेको शरीरों धारण किये थे। उनके द्वारा किये गये कर्मो के फल। संचित कर्म अनेको जन्मों के कर्म संस्कार है जो हमारे चित्त में संचित हुए हैं। इन्ही चित्त के संस्कारो के समूह को संचित कर्म कहते है।

(ख). प्रारब्ध कर्म – ऐसे कर्म जो संचित कर्म संस्कार से अति बलवान कर्म संस्कार है। ऐसे बलवान कर्म संस्कार भोग दिलाने के लिए आगे आते है, तथा भोग दिलाने के लिए भोगान्मुख होते है। तब उन्हे प्रारब्ध कहते है। जीवन में सुख व दुःख हमे प्रारब्ध कर्मो के फलभोग ही प्राप्त होते हैं।

(ग). क्रियमान कर्म – क्रियमान कर्म जिन्हे आगामी कर्म भी कहा जाता है। आगामी कर्म से अभिप्राय जो आगे किये जाने वाले कर्मो से है। जिन कर्मो का अभी आरम्भ नही हुआ हो। वही कर्म आगामी कर्म है। आगामी कर्म के भविष्य में फल प्राप्त होगे।

यहॉ यह बात ध्यान देने योग्य है कि संचित व प्रारब्ध कर्म पर हमारा वश नही है। क्योकि वे तो पूर्व में ही किये जा चुके है। परन्तु आगामी कर्म जो हम वर्तमान में कर रहे है या आगे करेगें, उन कर्मों को विवेक ज्ञान के द्वारा बना भी सकते है तथा बिगाड़ भी सकते है। यह हमारे अधीन होता है। श्रीमद् भगवद् गीता में भी कहा गया है –

प्रारब्ध कर्मो का क्षय फलभोग के द्वारा होता है। परन्तु विवेक ज्ञान से हम कर्मों का नाश कर सकते है।

'ज्ञानाग्नि दग्द्यकर्माणि।'

– गीता 4/19

अर्थात् ज्ञान रूप अग्नि जब उत्पन्न हो जाती है, तब समस्त कर्म संस्कारो के समूह उस अग्नि में भस्म हो जाते है। अर्थात् दग्द्यबीज हो जाते हैं।

गीता के अनुसार कर्म – श्रीमद् भगवद् गीता में तीन प्रकार के कर्म बताये गये है। जो इस प्रकार है –

(क). कर्म – गीता के अनुसार, शास्त्रो के अनुसार व वेदो के अनुसार किये गये कर्म वेद विहित कर्म है। वेद विहित कर्मों को ही गीता में कर्म की संज्ञा दी है।

(ख). अकर्म – अकर्म से अभिप्राय कर्म का अभाव ही अकर्मण्य यानि खाली बैठना।

(ग). विकर्म – विकर्म से तात्पर्य अविहित कर्म से है। जिन कर्मो से विहित निकल गया हो वह विकर्म कहलाते है। अर्थात् वे कर्म जो शास्त्र सम्मत नहीं है, अविहित कर्म है। निषिद्ध (पाप) कर्म है, विकर्म कहलाते है।

योगसूत्र के अनुसार कर्म – महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के कैवल्य पाद में कर्मो का वर्णन इस प्रकार किया है –

'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेशाम।'

– पा0 यो0 सू0 – 4/7

अर्थात् शुक्ल कर्म, कृष्ण कर्म, शुक्ल के कृष्ण कर्म तथा अशुक्ल कृष्ण कर्म ये कर्म के चार भेद हैं।

(क). शुक्ल कर्म – वेदो में बताई गई विद्या के अनुसार श्रेष्ठ कर्म शुक्ल कर्म है। शुक्ल कर्म वो श्रेष्ठ कर्म होते है, जिन कर्मों से सुख तथा स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है।

(ख). कृष्ण कर्म – कृष्ण कर्मों को निषिद्ध कर्म (पाप कर्म) भी कहा जाता है। इन पाप कर्मो से दुख तथा नरक की प्राप्ति होती है। तथा पाप कर्मो से ही पशु योनि मिलती है।

(ग). शुक्लकृष्ण कर्म – ऐसे कर्म जिसमे कुछ पुण्य कर्म हो तथा कुछ पाप कर्म का मिश्रण हो शुक्लकृष्ण कर्म भी कहलाते है। इन मिश्रित कर्मो से ही पुनः मनुष्य जन्म मिलता है।

(घ). अशुक्लाकृष्ण कर्म – पाप कर्म व पुण्य कर्म तथा मिश्रित कर्म से अलग अशुक्लाकृष्ण कर्म है। जिन्हे निष्काम कर्म कहा जाता है। निष्काम कर्म किसी कामना के लिए नही किये जाते है। निष्काम कर्मो से अन्तःकरण शुद्ध होता है। निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। तथा ऐसे साधक को शीघ्र ही ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न –

1. सत्य/असत्य बताइये।

(क) – मनुष्य को पूर्व जन्म के कर्मो के आधार पर जाति, आयु, भोग प्राप्त होते है।

(ख) – विहित कर्मो को सुकृत कर्म कहा जाता है।

(ग) – योगसूत्र के अनुसार कर्म 6 प्रकार के है।

(घ) – 'यद्करोषि यदश्रासि यज्जुहोसि' यह योगसूत्र से लिया गया है।

3.6 भक्तियोग

प्रिय विद्यार्थियो ज्ञानयोग एवं कर्मयोग का अध्ययन आपने किया। उस ईश्वर तक पहुॅचने के मार्गो में एक मार्ग भक्तियोग का मार्ग भी है। भक्तियोग भक्ति भाव द्वारा ब्रह्म सत्ता से जुड़े रहने की जीवन पद्धति है।

भक्तियोग की साधना, साधना जगत में एक अन्यतम साधना है। भाव प्रधान साधको के लिए भक्तियोग की साधना सबसे सरल साधना है। यह मार्ग ईश्वर प्राप्ति का सबसे सरल साधना है। भक्तियोग का अधिकारी किसी भी आयु वर्ग के व्यक्ति बन सकते है। बालक, वृद्ध, स्त्री व पुरूष इसमें किसी प्रकार का संदेह नही किया जा सकता है।

भक्तियोग प्रेम की उच्च पराकाष्टा है। ईश्वर के अनन्य प्रेम ही भक्ति है।

- **भक्ति का अर्थ –**

भक्ति शब्द 'भज सेवायाम्' धातु में तिन् प्रत्यय लगकर बनता है। जिसका अर्थ है – पूजा, सेवा, उपासना आदि। इस प्रकार भक्ति सेवा द्वारा उपासना द्वारा ईष्वर से तादात्म्य भाव स्थापित करना है। या इसे इस तरह से समझा जा सकता है, कि भक्ति उस भावना का नाम है, जिसमे भक्त (उपासक) ईश्वर के भाव में भावित होकर सर्वतोभवेन तद्रूपता का अनुभव करता है।

- **भक्तियोग की परिभाषा –**

भक्तियोग की परिभाषा देते हुए नारद भक्तिसूत्र – 16 में कहा गया है –

'पूजा दिष्टनुराग इति पराशर्यः।'

अर्थात् भगवान की पूजा अर्चना व उपासना में अनुराग होना ही भक्ति है।

नारद भक्तिसूत्र – 18 में महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार –

'आत्मप्रेम के अविरोध साधनों में अनुराग का होना ही भक्ति है।'

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – 'सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज करना भक्ति है।'

आचार्य गर्ग के अनुसार – 'ईश्वर के दिव्य गुण व कथा आदि के श्रवण में अनुराग का होना ही भक्ति है।'

सामान्य रूप से देखा जाए तो ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है। ईश्वर के प्रति पूर्ण सर्मपण का भाव ही भक्ति है।

शाण्ड़िल्य सूत्र में भक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है – 'सा प्रानुरक्ति ईश्वरे।' अर्थात् ईश्वर के प्रति परम् अनुरक्ति रखना ही भक्ति है।

भक्त प्रहलाद भक्ति योग की परिभाषा देते हुए कहते है – कि हे ईश्वर जैसी प्रीति इन्द्रियो के नाशवान, क्षण भंगुर, भोग्य पदार्थो के प्रति अज्ञानी जनो की रहती है। वैसी ही प्रीति मेरी तुममे हो, और हे भगवान् तेरी सतत् कामना करते हुए मेरे ह्रदय से वह कभी कम ना हो।

भक्त प्रहलाद की इस परिभाषा में ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम उन्हे प्राप्त करने की उत्कट इच्छा दिखाई देती है। यह भक्तियोग की सर्वोच्च परिभाषा है।

3.6.1 – भक्तियोग का उद्धेश्य – भक्तियोग का उद्धेश्य अनन्य भक्ति भाव से ईश्वर के प्रति समर्पण व मोक्ष की प्राप्ति। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण भाव के साथ ईश्वरमय ही हो जाना भक्तियोग का उद्धेश्य है। भक्तियोग सबसे सरल व सहज मार्ग है। जिसमें साधक ईश्वर के गुणानुवाद के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त कर सकता है। भक्तियोग का उद्धेश्य अपने पराये का भेद मिट कर सर्वतोभावेन उस ईश्वर को ही देखना है।

एक उत्तम भक्त की भी यही पहचान है। भक्तियोग का साधक सभी पदार्थो में, मनुष्यों में ईश्वर का साक्षात्कार करता है। वह मन, वचन कर्म से ईश्वर के प्रति समर्पित होता है, और वह समस्त प्राणियो को ईश्वर की सत्ता मानकर उनसे निच्छल प्रेम करता है। ईश्वर के प्रति पूर्ण सर्म्पण भाव ही उसे निन्दा – स्तुति में भी सम बनाये रखते है। ईश्वर के प्रति पूर्ण विश्वास ही उसे अदम्य साहस, पराक्रम और विपरित परिस्थितियो में भी धीरता के साथ आगे बढ़ने की सामर्थ्य देता है। ईश्वर विश्वासी कभी भी अवसादग्रस्त नहीं होता, उसे कोई दुःख नही सताते। इन सभी संकटो का समाधान वह अन्तः प्रेरणा कर लेता है।

अतः भक्तियोग का उद्धेश्य एक प्रकार से सम्पूर्ण जगत के प्राणियो के प्रति निच्छल प्रेम भाव है। सभी के प्रति समता का भाव है। इन्ही उत्तम भावो को धारण कर ईश्वरमय हो जाना ही भक्तियोग है।

3.6.2 – भक्ति के विविध रूप – (भक्ति के भेद) – भक्ति के विविध रूप होते हुए भी मुख्य रूप से दो प्रकार है / दो भेद है –

(1) हैतुकी या गौणी भक्ति (2) अहैतुकी या पराभक्ति

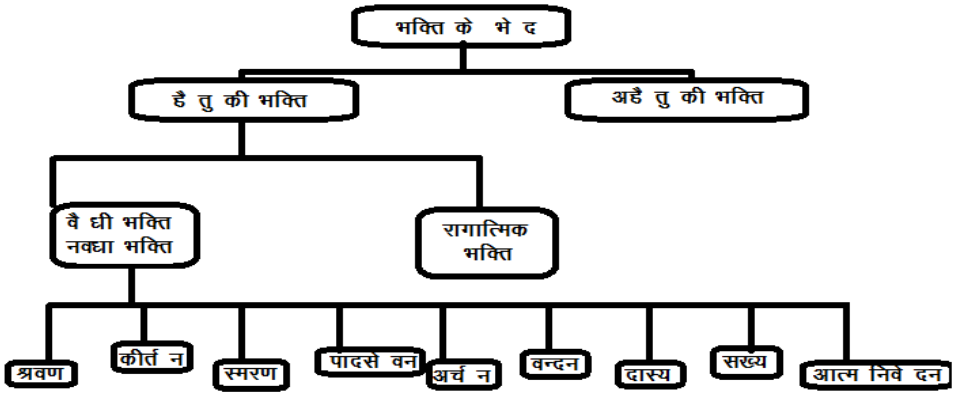

(1) हैतुकी या गौणी भक्ति – सकाम भक्ति को ही हैतुकी भक्ति कहते है। हैतुकी भक्ति सप्रयोजन भक्ति है। इसलिए इसे हैतुकी भक्ति कहा गया हैं। सासारिक विषयो को प्राप्त करने के लिए यह भक्ति की जाती है। यह भक्ति अहैतुकी भक्ति की प्रथम सीढ़ी कही जा सकती हैं। गौणी भक्ति, हैतुकी भक्ति या इसे अपरा भक्ति भी कहते है। गौणी भक्ति से भक्ति के वास्तविक स्वरूप प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

इस प्रकार की भक्ति में भक्त सांसारिक वस्तुओ की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है। वही संकट में घिरने पर भी ईश्वर को पुकारने वाले भक्त भी इसी प्रकार की श्रेणी में आते है। हैतुकी भक्ति दो प्रकार की है – (क). वैधी भक्ति (ख). रागत्मिक भक्ति

(क). वैधी भक्ति – वैधी भक्ति के शास्त्रो में नौ भेद बताये गये है। जिसे नवधा भक्ति कहा जाता है। शास्त्रों में नवधा भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। श्रीमद् भगवत् में नवधा भक्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया हैं –

''श्रवण कीर्तनं विश्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चन वन्दनं दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्।।''

– भागवत 7/5/23

अर्थात् श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, साख्य व आत्मनिवेदन ये भक्ति के नौ भेद है।

1.श्रवण भक्ति – चित्त को एकाग्र कर ईश्वर के प्रति श्रद्धा व विश्वास कर, उनके दिव्य गुण, चरित्र लीला आदि का श्रवण करना श्रवण भक्ति है।

2.कीर्तन भक्ति – कीर्तन भक्ति, ईश्वर के दिव्य गुणो, चरित्र, लीला, कथा आदि का गीतो के माध्यम से कथन करना कीर्तन भक्ति है। इसे इस प्रकार समझ सकते है। भगवान की भक्ति के भजन करना, गीत गाना कीर्तन भक्ति है। उदाहणार्थ – चैतन्य महाप्रभु।

3.स्मरण भक्ति – भगवन नाम का श्रवण, उनके दिव्य गुणो का बार – बार चिन्तन करना स्मरण भक्ति है। व ध्यान करना स्मरण भक्ति है। उदाहणार्थ – भक्त प्रहलाद।

4.पादसेवन – ईश्वर के दिव्य चरण कमलो का सेवा करना पादसेवन भक्ति है। यह भक्ति दो प्रकार से होती है।

प्रथम – अपने अराध्य, ईष्ट या गुरूदेव के पादयुगल का हृदय में श्रद्धा भक्ति पूर्वक ध्यान करना ही पादसेवन भक्ति है।

द्वितीय – अपने ईष्ट आराध्य देव की प्रतिमा के चरणो को धोकर नित्य श्रद्धाभाव से साधना करना पादसेवन भक्ति है। उदाहणार्थ – लक्ष्मी जी या गुरू चरणों की वन्दना करने वाले शिष्य।

5.अर्चन भक्ति – अर्चन का तात्पर्य है, पूजन अतः भगवान का विधि विधान पूर्वक व नैवेद्य आदि द्वारा पूजन करना अर्चन भक्ति है। इसमें बाह्य सामाग्री द्वारा भक्त भगवान का पूजन करता है। अथवा मन ही मन कल्पित सामाग्री द्वारा भी भगवान का श्रद्धा पूर्वक पूजन करता है। उदाहणार्थ – राजा पृथु।

6.वन्दन भक्ति – वैदिक रीति व वैदिक मन्त्रो के द्वारा उत्तम स्त्रोतो द्वारा भगवान की पूजा अर्चना करना वन्दन भक्ति है। उदाहणार्थ – अक्रुर।

7.दास्य भक्ति – ईश्वर की उपासना करते हुए सेवा करते हुए अपने प्रति उपासक का भाव व सेवक का भाव बनाये रखना ही दास्य भक्ति है। उदाहणार्थ – जैसा हनुमान जी श्रीराम जी के प्रति रखते थे।

8.साख्य भक्ति – भगवान के प्रति मित्रता का भाव रखना तथा उन्हे अपना आराध्य मान कर भक्ति करना सख्य भक्ति है। उदाहणार्थ – अर्जुन, उद्धव और सुदामा आदि।

9.आत्मनिवेदन भक्ति – आत्मनिवेदन वह भक्ति है, जिससे भक्त भगवान के स्वरूप में स्वयं को सर्वतोभावेन समर्पण कर देता है। उदाहणार्थ – प्रहलाद पौत्र राजा बलि ने वामन भगवान को अपना सर्वस्य अर्पण कर दिया था।

(ख). रागात्मिक भक्ति – रागात्मिक भक्ति नवधा भक्ति की चरम अवस्था कही जा सकती है। जब नवधा भक्ति अपनी चरम अवस्था को पार कर जाती है। उस स्थिति में हृदय में आलौकिक भगवत् प्रेम प्रवाहित होने लगता है। शास्त्रो में इसका वर्णन इस प्रकार है –

'रसानुभाविका आनन्दशक्तिदा रागात्मिका।'

अर्थात् दिव्य भगवत् प्रेम रस यानी आनन्द रस का अनुभव कराने वाली भक्ति विशेष को रागात्मिक भक्ति कहते है। रागात्मिक भक्ति नवधा भक्ति की साधना के पश्चात् प्राप्त दिव्य अलौकिक आनन्द की आनुभूतिक अवस्था है।

इस अनुभव गम्य अवस्था में भक्त को ईश्वर की झलक यत्र – तत्र (जहॉ – तहॉ) ही मिल जाती है। भगवान की झलक उसे कभी जल में, कभी थल में, कभी आकाश में, कभी मेघों में, कभी पेड़ों में, कभी पत्तो में, कभी बाहर, कभी अपने अन्तःस्थल (हृदय) में उनकी झलक देखेने को मिलती है। भक्त का चित्त उन्ही रूपों में रमने लगता है। इसी आनुभूति की अवस्था का नाम रागात्मिक भक्ति है।

(2) अहैतुकी या पराभक्ति – साधक की उत्कृष्ट और अन्तिम पराकाष्टा ही पराभक्ति हैं। पराभक्ति के उपासक और उपास्य एक हो जाता हैं। द्वैतभाव समाप्त हो जाता हैं। अतः कहा जा सकता है कि पराभक्ति में अराध्य व अराधक एक हो जाते है तथा द्वैत का भाव मिट जाता है। केवल ध्येय मात्र की प्रतीति रहती है। साधक को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

प्रिय विद्यार्थियो अभी तक आपने भक्ति का अर्थ, परिभाषा, भक्ति की विविध रूप का अध्ययन किया। क्या भक्त के भी विविध रूप है? यह प्रश्न आपके मन में आ रहे होगे आइये अब भक्त कितने प्रकार के होते है, और वह किस प्रकार की भक्ति करते है। इसका अध्ययन करें –

3.6.3 – भक्त के प्रकार – जैसा कि पूर्व विदित है कि ईश्वर में परम् अनुरक्ति ही भक्ति है। इस प्रकार प्रभु के प्रति अनन्य प्रम में डूब जाना भक्ति है। भगवान के भजन करना भक्ति है। और जो भगवान का भजन, पूजा, अराधना, जप, ध्यान आदि करता है। वह भक्त कहलाता है।

भक्त ईश्वर की भक्ति किसी प्रयोजन से करता है। और सभी भक्तो का प्रयोजन भिन्न – भिन्न होता है। तथा भिन्न प्रयोजन होने से भक्त भी भिन्न प्रकार के है। इन भगवत् भक्तो को श्रीमद् भगवत् गीता में इस प्रकार वर्णन किया गया है –

''चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्शभ।।''

– गीता 7/16

हे अर्जुन चार प्रकार के पुण्यशाली मनुष्य मेरा भजन करते है। उपासना करते है। वे है आर्त, जिज्ञासु, अर्थाथी और ज्ञानी।

1.आर्त भक्त – प्रथम श्रेणी के भक्त है आर्त भक्त। ये वे भक्त है, जब संसारिक विपदाओं और कष्टो में घिर जाते है। तब उस समय ईश्वर को पुकारते है। उसकी भक्ति करते है तथा उसको आर्त भाव से पुकारते हैं। जैसे – गजराज, द्रौपदी।

2.जिज्ञासु भक्त – जिज्ञासु भक्त वह है। जो आत्म तत्व को जानने की जिज्ञासा रखता हो। जिज्ञासु भक्त ब्रहम तत्व के यर्थाथ रूप से जानने की ईच्छा रखने वाला होता है। वह इसी ईच्छा से ईश्वर को भजता है। जैसे उद्धव, राजा जनक।

3.अर्थाथी भक्त – अर्थाथी भक्त वे भक्त होते है। जो संसारिक वस्तु, धन, वैभव, मान एवं प्रतिष्ठा एवं स्त्री व पुरूष आदि प्राप्ति की ईच्छा से ईश्वर की उपासना करते हैं। समस्त मानव व दानव इसी श्रेणी में आते है।

4.ज्ञानी भक्त – ज्ञानी भक्त ऐसे भक्तो को कहा जाता हैं। जो ब्रहम ज्ञान की प्राप्ति के लिए आत्म कल्याण की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करते है। ऐसे भक्त ब्रहम में चित्त को लगाये रखने के लिए ध्यान – समाधि का अभ्यास आवश्यक समझ कर ब्रहम के ध्यान – समाधि में चित्त को लगाये रहते है। श्रीकृष्ण ने श्रीमद् भगवद् गीता में कहा है कि ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरूप है। ऐसा मेरा मत है। इस प्रकार सभी भक्तो में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं।

श्रीमद् भगवत पुराण में भक्तो को तीन श्रेणियो में विभाजित किया गया है –

(1).साधारण भक्त – साधारण भक्त के भक्त है जो ईश्वर की की अराधना केवल मूर्ति के रूप में करते है।

(2).मध्यम भक्त – जो भक्त ईश्वर के प्रति उत्कृष्ट प्रेम, अनुराग रखने वाला तथा ईश्वर के भक्तो के प्रति मित्रता का भाव रखने वाला तथा अज्ञानीजनो के प्रति दया का भाव तथा शत्रुओ के प्रति उदासीनता का भाव रखने वाला होता है। वह मध्यम श्रेणी का भक्त है।

(3).उत्तम भक्त – उत्तम भक्त वह है। जिनके अन्दर समत्व का भाव हो। जिसके लिए अपने पराये में कोई भेद ना हो। अपनी तथा दूसरो की सम्पत्ति में अन्तर नही रहता हो। अहंकार व अभिमान से दूर रहकर समत्व बुद्धि वाला ही उत्तम भक्त है।

उत्तम भक्त मन, वचन, कर्म से ईश्वर के प्रति समर्पित होता है। तथा सभी प्राणियो मे ईश्वर का स्वरूप देखता है। तीा उनसे निश्चल प्रेम करता है। उसे सर्वत्र ईश्वर के ही दर्शन होते है। जो ईश्वर का एक निष्ट ध्यान करते हुए निंदा तथा स्तुति में सम रहता है। वही उत्तम भक्त है।

इस प्रकार भक्तियोग के साधक की एक स्थिति यह आ जाती है। जिसमें अपने पराये का भी ज्ञान नही रहता हैं। उपासक और उपास्य एक ही हो जाते है। यही पराभक्ति है। श्रीमद्भगवत् गीता में श्रीकृष्ण नं स्वयं कहा है –

''सन्तुष्टः सततः योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मथ्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मभ्दक्तः समे प्रियः।।'' – 12/14

अर्थात् जो सदा सन्तुष्ट चित्त कां अपने वश में रखने वाला अपने में ब्रहम मात्र का दृढ़निश्चय करने वाला, मुझ (परमात्मा) मन तथा बुद्धि को समर्पित करने वाला योगी मेरा भक्त मुझे सबसे प्रिय है। इस प्रकार आनन्द स्वरूप ब्रहम को प्राप्त कर साधक स्वयं भी आनन्दी बन जाता है।

श्रुति का कथन है – 'आत्मैवेद् सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेव मन्वान एवं विजानन्ना ..... भवति।'' – छान्दोग्य उपनिषद 7/25/2

अर्थात् यह सब कुछ परमात्मा ही है, जो ऐसा देखता है, मानता है, ऐसा समझता है, वह परमात्मा में ही अनुराग तथा उसके स्वरूप में सुख तथा आनन्द का अनुभव करता हुआ परमात्मा स्वरूप हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न –

1.बहुविकल्पीय प्रश्न –

क. ज्ञान मार्ग द्वारा सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति है –

अ. ज्ञानयोग ब. कर्मयोग

स. भक्तियोग द.लययोग

ख. ज्ञानयोग में बर्हिरंग साधना के कितने साधन है?

अ. 2 ब. 3

स. 4 द. 5

ग. मोक्ष प्राप्ति की तीव्र इच्छा है –

अ. भक्तियोग ब. मुमुक्षुत्व

स. कर्मयोग द. षट्सम्पत्ति

क. गीता के अनुसार कर्म कितने प्रकार के है?

अ. 3 ब. 4

स. 6 द. 5

ड़. नवधा भक्ति में पहली भक्ति है।

अ. कीर्तन ब. पादसेवन

स. स्मरण द. श्रवण

च. कष्टो से घिर कर ईश्वर को पुकारने वाला भक्त है।

अ. अर्थाथी भक्त ब. ज्ञानी भक्त

स. आर्त भक्त द. इनमें से कोई नहीं

छ. 'योगः कर्मसु कौशलम्' यह श्लोक है –

अ. योगसूत्र ब. श्रीमद्भगवत् गीता

स. धेरण्ड संहिता द. शिव संहिता

3.7 सारॉश

योग विद्या हमारे प्राचीन ऋषियो द्वारा अपनायी गयी ऐसी साधना पद्धति है, जिन साधना पद्धति को अपनाकर जीवन के लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। योग के किसी भी मार्ग ज्ञान, कर्म, भक्ति को अपनाकर लक्ष्य तक पहुॅचा जा सकता है। ज्ञानमार्ग को अपनाकर सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति को ज्ञानयोग कहते है। अपने कर्त्तव्य कर्म करते हुए कुशलता पूर्वक कर्मो को करना कर्मयोग है, तथा भक्ति मार्ग द्वारा ईश्वरीय सत्ता की दिव्य अनुभूति ही भक्ति योग है। प्रिय विद्यार्थियो इन तीनो को हमारे जीवन में अत्यन्त महत्व है। भक्ति मार्ग का अनुसरण करते हुए ज्ञान की प्राप्ति होती है, और विवेक ज्ञान द्वारा मनुष्य के कर्म स्वयं ही कुशल होने लगते है। इस प्रकार इन तीनो का हमारे जीवन में अत्यधिक महत्व है। भक्तियोग, कर्मयोग व ज्ञानयोग का समन्वय जीवन को उच्च व दिव्य बनाता है। दिव्य व उत्कृष्ट जीवन द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

3.8 शब्दावली

- अन्तःकरण – अन्तरात्मा
- अविरत – अनवरत
- लघुता – हल्कापन
- सांख्य योग – महर्षि कपिल कृत दर्शन

- विवेक ज्ञान – सही – गलत का ज्ञान
- विशिष्टता – विलक्षण, अद्भूत, अधिक शिष्ट, यशस्वी
- अर्न्तज्ञान – अन्तःकरण, अन्तबोध, भीतरी ज्ञान
- मुमुक्षुत्व – मोक्ष प्राप्ति की ईच्छा
- आत्मानुसन्धान – आत्मा की खोज, आत्म तत्व का अन्वेषण
- उत्कण्ठा – तीव्र इच्छा

3.9 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

1.क – अ ख – स ग – ब घ – अ

ड़ – द च – स छ – ब

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 – विज्ञानानन्द सरस्वती (2003), योग विज्ञानयोग। निकेतन ट्रस्ट मुनि की रेति, ऋषिकेश।

2 – कुमार कामाख्या – योग महाविज्ञान।

3 – निरजनानन्द (1994), योग दर्शन। श्री पंचदशनाम, परमहंस अलखवाड़ा, देवधर, विहार।

4 – पाण्ड़ेय राजकुमारी (2008), भारतीय योग परम्परा के विविध आयाम। राधा पब्लिकेशन, दिल्ली

5 – व्यास महर्षि (2003), भगवदगीता। गीता प्रेस गोरखपुर।

6 – योगेन्द्र पुरूषार्थी (1999), वेदो में योग विद्या। यौगिक शोध संस्थान, हरिद्वार।

7 – मिश्र चन्द्र जगदीश (2010), भारतीय दर्शन। चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ज्ञानयोग को परिभाषित करते हुए ज्ञानयोग के बहिरंग साधनो की व्याख्या कीजिए।
2. ज्ञानयोग के अन्तरंग साधनो के अन्तर्गत निदिध्यासन को विस्तार पूर्वक समझाइए।
3. भक्तियोग का अर्थ, परिभाषा क्या है? नवधा भक्ति का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. कर्म के प्रकारो का विस्तृत वर्णन कीजिए।
5. कर्म, भक्ति, ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है, स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4 रोग का अर्थ, परिभाषा एवं कारण, रोगों का वर्गीकरण

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 रोग का अर्थ
4.4 रोग की परिभाषा
4.5 रोग के कारण
4.6 रोगों का वर्गीकरण
4.6.1 शारीरिक रोग
4.6.2 मानसिक रोग
4.6.3 आध्यात्मिक रोग
4.7 सारांश
4.8 पारिभाषिक शब्दावली
4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, वर्तमान समय में रोग शब्द अत्यन्त व्यापक रुप से समाज में फैला है। इसे बिमारी, व्याधि व डिजीज आदि नामों से जाना जाता है। प्राचीन काल में जब मनुष्य का आहार विहार संयमित था तथा वह निश्चित समय पर शयन व जागरण करता हुआ दिनचर्या व ऋतुचर्या का पालन करता था उस समय वह प्रायः रोगमुक्त जीवन व्यतीत करता था किन्तु आधुनिकता के दौर में व पश्चिमी दर्शन को अपनाने के कारण जब मनुष्य का आहार विहार असंयमित हुआ, उसके उठने के समय से लेकर दिनचर्या व ऋतुचर्या अव्यवस्थित हुई, उसके आहार में अप्राकृतिक रासायनिक पदार्थो का प्रयोग एवं दवाईयों का प्रयोग बढा, तब से समाज में रोगों की एक बाढ सी आ गई। वर्तमान समय में छोटे बच्चों से लेकर व्यस्क व वृद्ध तक लगभग सभी किसी न किसी रोग से जूझ रहें है। नित्य समाज में नये–नये रोग जन्म ले रहें हैं। आधुनिक समय में रोगों नें इस प्रकार समाज को घेरा कि चिकित्सकों के पास रोगियों की लम्बी–लम्बी लाइनें लगी रहती है, चिकित्सालयों में रोगियों को भर्ती करने के लिए स्थान कम पड रहा है तथा अनेकों मनुष्य विभिन्न गम्भीर रोगों से ग्रस्त होकर असमय मृत्यु के मुख में समा रहें हैं। रोग ने समाज को इस प्रकार भयभीत कर रखा है कि प्रत्येक मनुष्य इसके नाम से ही डरता है। वास्तव में रोग आज के समय की एक बडी समस्या के रुप में उभरी है।

रोगों के इस व्यापक स्वरुप को जानने के बाद अब आपके मन में रोगों के अर्थ, कारण तथा वर्गीकरण (प्रकरों) को जानने की जिज्ञासा उत्पन होनी स्वाभाविक है अतः अब हम रोगों के अर्थ, कारण तथा वर्गीकरण का सविस्तार अध्ययन करेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- रोग का अर्थ की विवेचना कर सकेंगे।
- रोगों का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेगें।
- रोग को परिभाषित करने में सक्षम हो सकेंगे।
- रोग के कारणों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर सकेंगे।
- रोगों को वगीकृत कर समझाने में सक्षम हो सकेगें।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

4.3 रोग का अर्थ

रोग का अर्थ शरीर, मन एवं आत्मा की उस अवस्था से है जिसमे शरीर, मन एवं आत्मा अपने सामान्य कार्यो को सामान्य रुप से सम्पादित करने में असक्ष्म होते हैं। शरीर के सामान्य कार्यो में श्वसन, पाचन, उर्त्सजन, रक्त परिसंचरण, व गतिशीलता आदि क्रियाओं अर्थात कार्यो का वर्णन आता है, वह अवस्था जब शरीर अपने इन कार्यो को सामान्य रुप से करने में असक्ष्म होता है, शारीरिक रोग कहलातें हैं। इसी प्रकार मन के सामान्य कार्यो में मानसिक सोच–विचार, मनन–चिन्तन, व मानसिक संवेग– आवेग आदि क्रियाओं का समावेश होता है, वह अवस्था जब मन अपने इन कार्यो को सामान्य रुप से करने में असक्ष्म होता है, मानसिक रोग अथवा मनोरोग कहलातें हैं। वह अवस्था जब आत्मा में ऊर्जा (आध्यात्मिक ऊर्जा) की कमी हो जाती है तथा आत्महीनता की अवस्था उत्पन्न होती है, आध्यात्मिक रोग कहलाते हैं। रोग का अर्थ शरीर, मन एवं आत्मा की उस नकारात्मक अवस्था से भी होता है जिसमें शरीर , मन, व आत्मा की ऊर्जा में ह्रास हो जाता है। ऊर्जा में ह्रास होने पर शरीर, मन एवं आत्मा की अपने कार्यो के प्रति सक्रियता कम हो जाती है तथा इनके कार्यो में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। शरीर में ऊर्जा की कमी होने पर यह स्वंम को कार्य करने में असक्ष्म अनुभव करता है , ठीक इसी प्रकार मन व आत्मा में भी ऊर्जा की कमी होने पर यें स्वंम को कार्य करने में असक्ष्म अनुभव करते हैं, इस अवस्था के अर्न्तगत शरीर, मन एवं आत्मा में एकरुपता का अभाव हो जाता है।

रोग के अर्थ को अलग– अलग चिकित्सा पद्धतियों में अलग–अलग रुपों में परिभाषित किया गया है–

(क) एलोपैथी चिकित्सा के अनुसार–

शरीर में भौतिक कारणों से रासायनिक असन्तुलन होने पर अथवा बाहय रोगाणु के संक्रमण होने पर शरीर की चयापचय दर सन्तुलन का बिगडने का अर्थ रोग है।

(ख) आयुर्वेद के अनुसार–

आयुर्वेद शास्त्र में शरीर के वात पित्त व कफ नामक त्रिदोषों, अग्नियों, धातुओं व मलों की विषम अवस्था को रोग के अर्थ में लिया जाता है। इसके साथ साथ इन्द्रियों, मन व आत्मा की प्रसन्न अवस्था स्वास्थ्य जबकि इनकी दुखद का अर्थ रोग है।

(ग) प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार–

प्राकृतिक चिकित्सा में शरीर की उत्पत्ति का आधार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश नामक पंचमहाभूतों को माना गया गया है, शरीर में इन पंचमहाभूतों का समयोग स्वास्थ्य तथा इन महाभूतों की विषम अवस्था का अर्थ रोग है।

(घ) एक्यूप्रेशर चिकित्सा के अनुसार–

एक्यूप्रेशर चिकित्सा में शरीर के आन्तरिक अगों की ऊर्जा को स्वास्थ्य के अर्थ में लिया जाता है, शरीर से इस ऊर्जा के क्षय का अर्थ रोग है। इसके साथ साथ शरीर में विषाक्त तत्वों (होमोटाक्सिन्स) की श्रखंला बनने का अर्थ रोग है।

(घ) योग चिकित्सा एवं प्राण चिकित्सा के अनुसार–

योग चिकित्सा एवं प्राण चिकित्सा में प्राण ऊर्जा को शरीर एवं मन के स्वास्थ्य का आधार माना जाता है। विभिन्न योगांगों का अभ्यास इस प्राण ऊर्जा में वृद्धि के उद्देश्य से किया जाता है। शरीर एवं मन मे इस प्राण ऊर्जा के अभाव का अर्थ शारीरिक एव मानसिक रोग है।

(घ) स्पर्श चिकित्सा (रैकी) के अनुसार–

मनुष्य शरीर के बाहर व अन्दर ब्राहमाण्डीय ऊर्जा प्रवाह (आभा मण्डल) रहता है। इस ऊर्जा प्रवाह में सकारात्मक ऊर्जा की प्रबलता स्वास्थ्य जबकि इस ऊर्जा प्रवाह में नकारात्मक ऊर्जा की अधिकता का अर्थ रोग है।

प्रिय पाठकों स्वास्थ्य एक सकारात्मक अवस्था है जबकि इसके विपरित रोग वह नकारात्मक अवस्था है जो शरीर, मन व आत्मा पर नकारात्मक प्रभाव रखती है। सभी चिकित्सा पद्धतियां इस तथ्य को अलग अलग रुपों में वर्णित अवश्य करती हैं किन्तु मूल रुप से सभी विचारधाराओं में रोग का अर्थ एक समान भाव में (नकारात्मक) परिलक्षित होता है।

4.4 रोग की परिभाषा

प्रिय पाठकों चूकिं रोग एक नकारात्मक अवस्था है तथा स्वास्थ्य एक सकारात्मक अवस्था है अतः अधिकतर विद्धानों द्वारा स्वास्थ्य को परिभाषित किया गया है, वास्तव में इस स्वास्थ्य की विपरित अवस्था ही रोग है। स्वास्थ्य को परिभाषित करते हुए आयुर्वेद शास्त्र के विद्धान आचार्य सुश्रुत प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में कहते हैं–

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रिय।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभीधियते।।

(सुश्रुत संहिता 15/41)

अर्थात जिसके त्रिदोष सम अवस्था में हैं, जिसके शरीर में अग्नियों का व्यापार सम है, जिसके शरीर में धातुएं सम मात्रा में उपस्थित हैं तथा शरीर में मलों की सम स्थिति है। इसके साथ साथ
जिसकी इन्द्रियां, मन व आत्मा में प्रसन्नता के भाव हैं, वही व्यक्ति स्वस्थ है।
इसके विपरित वह व्यक्ति जिसमें इसके विपरित लक्षण प्रकट हो रहे हैं, वह अस्वस्थ अथवा रोगी व्यक्ति है।

इसी प्रकार विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) द्वारा स्वास्थ्य को परिभषित करते हुए कहा गया है–

Health is a state of complete Physical , Mental, Social and Sptiritual well being and not merely the absence of disease or infirmity.

अर्थात केवल रोगों की अनुपस्थिति मात्र को ही स्वास्थ्य नही कहा जा सकता है अपितु स्वास्थ्य तो वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्तर पूर्ण रुप से स्वस्थ हो।

4.5 रोग के कारण

रोग के कारण के संदर्भ में अलग अलग चिकित्सा पद्धतियां अलग अलग धारणाएं रखती है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(क) एलोपैथी चिकित्सा (आधुनिक चिकित्सा विज्ञान) के अनुसार–

एलोपैथी चिकित्सा पद्धति के अनुसार शरीर में बाहय रोगाणु (जीवाणु अथवा विषाणु) का संक्रमण रोग का मूल कारण है। बाहय रोगाणु के संक्रमण होने से शरीर में अनेक असामान्य एवं असहज लक्षण रोग के रुप में प्रकट होते हैं।

बाहय भौतिक कारण (दुर्घटनाएं व प्रदूषण) रोग के प्रमुख कारण हैं। इसके साथ साथ भोजन से शरीर लिए आवश्यक पोषक तत्व प्राप्त नही होने पर शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं। शरीर में स्रावित होने वाले हार्मोन्स भी रोगों के लिए जिम्मेदार होते हैं। शरीर में हार्मोन्स के असन्तुलन होने पर भी शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं।

(ख) आयुर्वेद चिकित्सा के अनुसार–

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति के अनुसार विकृत आहार विहार रोग का मूल कारण होता है। विकृत आहार विहार के कारण शरीर के वात पित्त कफ नामक त्रिदोषों में विकृति उत्पन्न होती है, जिसके कारण शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं। विकृत आहार विहार के कारण ही शरीर की धातुओं एवं मलों में विषमता उत्पन्न होती है। ये विषमताएं विभिन्न रोगों को उत्पन्न करती है।

(ग) प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार–

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में अप्राकृतिक जीवन यापन एवं अप्राकृतिक आहार विहार को रोग के मूल कारण के रुप में स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार अप्राकृतिक जीवन यापन एवं अप्राकृतिक आहार विहार के कारण शरीर में विजातीय पदार्थो का भण्डारण होने लगता है । जब शरीर में विजातीय विषों की मात्रा अधिक हो जाती है तब इन विषों को शरीर से बाहर निकालने के लिए शरीर को रोग का सहारा लेना पडता है।

(घ) एक्यूप्रेशर चिकित्सा के अनुसार–

एक्यूप्रेशर चिकित्सा पद्धति के अनुसार कार्य करते समय शरीर में विषक्त तत्वों (होमोटाक्सिन्स) की उत्पत्ति होती है। शरीर में ये विषाक्त तत्व एक श्रृखंला का निर्माण कर लेते हैं। यह श्रृखंला जिस अंग अथवा स्थान पर बनती है, उस अंग अथवा स्थान में ऊर्जा प्रवाह बाधित हो जाता है परिणाम स्वरुप उस अंग से सम्बन्धित रोग उत्पन्न हो जाता है।

(घ) योग चिकित्सा एवं प्राण चिकित्सा के अनुसार–

योग चिकित्सा एवं प्राण चिकित्सा के अनुसार शरीर में जीवनी शक्ति का ह्रास होना ही रोग का मूल कारण है। विकृत आहार विहार एवं योगमय जीवनशैली के स्थान पर भोगमय जीवनशैली (दिनचर्या, रात्रिचर्या व ऋतुचर्या का पालन नही करना) का अनुकरण करने से जब शरीर में विषाक्त तत्वों की मात्रा बढ जाती है तब शरीर की जीवनी शक्ति कम हो जाती है तथा शरीर रोगों से ग्रस्त हो जाता है।

(घ) स्पर्श चिकित्सा (रैकी) के अनुसार–

स्पर्श चिकित्सा (रैकी) के अनुसार शरीर में नकारात्मक ऊर्जा की अधिकता ही रोग का मूल कारण है। नकारात्मक ऊर्जा की अधिकता होने पर विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोग पैदा हीते हैं।

उपनिषद साहित्य में रोगों व उनके कारणें पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि मानव शरीर में रोग दो प्रकार (कारण) से आते हैं –

(A) **प्रारब्ध :** पूर्वजन्म के बुरे कर्मों के फलभोग हेतु मानव को रोग प्राप्त होते हैं।

(B) **कुपथ्य जन्य :** निषिद्ध खान पान एवं असंयमित आहार विहार के कारण रोग उत्पन्न होते हैं। इन कुपथ्य जन्य रोगों के भी चार प्रकार होते हैं–

(I) **साध्य रोग :** ऐसे रोग जो औषध सेवन से दूर हो जाते हैं, साध्य रोग कहलाते हैं।

(II) **कृच्छसाध्य रोग :** ऐसे रोग जो अधिक औषध सेवन तथा आहार विहार पर पूर्ण संयम करने के उपरान्त ही ठीक होते है, कृच्छसाध्य रोग कहलाते हैं।

(III) **याप्य रोग :** ऐसे रोग जो औषध सेवन एवं आहार विहार संयम के प्रभाव से दब जाते हैं, याप्य रोग कहलाते हैं।

(IV) **असाध्य रोग :** ऐसे रोग जो औषध सेवन एवं आहार विहार पर संयम के उपरान्त भी ना ही ठीक होते हैं तथा ना ही दबते हैं, असाध्य रोग कहलाते हैं।

प्रिय पाठकों रोग के कारणों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अब आपके मन में निश्चित ही इन रोगों के विषय में ओर अधिक जानने की जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न हुई होगी। अब आपके मन में यह प्रश्न उत्पन्न होना भी स्वाभाविक ही है कि इन रोगों की विस्तृत स्वरुप को हम किस प्रकार वर्गीकरत कर सकते हैं अतः अब हम रोग के वर्गीकरण का अध्ययन करते हैं।

4.6 रोगों का वर्गीकरण

रोगों का वर्गीकरण करने से पूर्व आपको यह तथ्य भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि भले ही अलग अलग पद्धतियां रोग के कारणों को अलग अलग मानती हैं किन्तु रोगों के वर्गीकरण के संदर्भ में प्राय सभी पद्धतियों में समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं। यहां पर सभी रोगों को निम्न लिखित तीन वर्गो में वर्गीकरत किया गया है।

रोगों के इन तीन वर्गो का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

4.6.1 शारीरिक रोग–आधुनिक विज्ञान मानव शरीर को कुल ग्यारह तंत्रों में विभाजित करता है। जब तक शरीर के ये तंत्र अपने कार्यों को भली भातिं सम्पादित करते रहते हैं तब तक यह शरीर स्वस्थ बना रहता है किन्तु जब इन तंत्रों में विकार उत्पन्न हो जाता है और ये तंत्र अपने कार्यों को भली भातिं सम्पादित करने में असक्ष्म हो जाते हैं, शरीर की यह अवस्था शारीरिक रोग कहलाती है। मनुष्य के शारीरिक रोगों को हम इस प्रकार वर्गीकरत कर सकते हैं–

(A) **पाचन तंत्र के रोग :** पाचन तंत्र के द्वारा भोजन के पाचन, अवशोषण एवं निष्कासन की क्रिया को सही प्रकार नही करने की अवस्था पाचन तंत्र के रोग कहलाती है। इसके अर्न्तगत अपच, एसाडिटी, मधुमेह एवं कब्ज आदि रोगों का वर्णन आता है।

(B) **श्वसन तंत्र के रोग** : श्वसन तंत्र के द्वारा बाहय वायुमण्डल से आक्सीजन एवं शरीर से कार्बन डाई आक्साइड के आदान प्रदान की क्रिया को सही प्रकार नही करने की अवस्था श्वसन तंत्र के रोग कहलाती है। इसके अर्न्तगत खांसी, जुकाम एवं दमा आदि रोगों का वर्णन आता है।

(C) **उत्सर्जन तंत्र के रोग** : उत्सर्जी पदार्थो को शरीर से बाहर निकालने की क्रिया को सही प्रकार नही करने की अवस्था उत्सर्जन तंत्र के रोग कहलाती है। इसके अर्न्तगत वृक्क शोथ, वृक्क प्रदाह, वृक्क में पथरी एवं बहुमूत्र आदि रोगों का वर्णन आता है।

(D) **अस्थि तंत्र के रोग** : शरीर को आकार प्रदान करने वाली अस्थियों एवं उपास्थियों में विकृति अस्थि तंत्र के रोग कहलाती है। इसके अर्न्तगत हड्यिों में टेडापन तथा जोडों मे दर्द आदि रोगों का वर्णन आता है।

(E) **पेशिय तंत्र के रोग** : शरीर को गति प्रदान करने वाली मॉसपेशियों की विकृति पेशिय तंत्र के रोग कहलाती है इसके अर्न्तगत पेशियों में दर्द, पेशियों में जकडन तथा पेशियों में सूजन आदि रोगों का वर्णन आता है।

(F) **अध्याावरणीय तंत्र के रोग** : सम्पूर्ण शरीर को सुरक्षात्मक आवरण प्रदान करने वाली त्वचा से सम्बन्धित रोग अध्याावरणीय तंत्र के रोग कहलाती है। इसके अर्न्तगत त्वचा में खुजली, दाने, फोडे फुसीं आदि रोगों का वर्णन आता है।

(G) **रक्त परिसंचसण तंत्र के रोग** : सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करने वाली शरीर की महत्वपूर्ण धातु रक्त एवं हृदय की विकृति रक्त परिसंचरण तंत्र के रोग कहलाती है। इसके अर्न्तगत रक्त अल्पता, उच्च व निम्न रक्तचाप तथा हृदय से सम्बन्धित रोगों का वर्णन आता है।

(H) **अन्तःस्रावी तंत्र के रोग** : विभिन्न हार्मोन्स के द्वारा शरीर की चयापचय दर को सन्तुलित करने वाली अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से सम्बन्धित रोग अन्तःस्रावी तन्त्र के रोग कहलाते है। इसके अर्न्तगत मधुमेह, थायराइड, बौनापन व बांझपन आदि रोगों का वर्णन आता है।

(I) **प्रतिरक्षा तंत्र के रोग** : बाहय वातावरण में उपस्थित विषाणुओं, जीवाणुओं एवं रोगाणुओं से शरीर की सुरक्षा सही प्रकार नही करने की अवस्था प्रतिरक्षा तंत्र के रोग कहलाती है। इसके अर्न्तगत जुकाम, बुखार एवं हैजा आदि रोगों का वर्णन आता है।

(J) **तंत्रिका तंत्र के रोग** : शरीर की आन्तरिक एवं बाहय क्रियाओं को नियंत्रित करने वाले मस्तिष्क एवं नाडियों द्वारा सही प्रकार कार्य नही करने की अवस्था तंत्रिका तंत्र के रोग कहलाती है। इसके अर्न्तगत नर्वस विकनैस, दुर्बल स्मरण शक्ति, हाथों व पैरौं में कम्पन्न एवं तंत्रिकाओं से सम्बन्धित रोगों का वर्णन आता है।

(K) **प्रजनन तंत्र के रोग** : अपने वंश को आगे बढाने हेतु अपने समान रुप रंग एवं गुण कर्म स्वभाव वाली सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता में कमी की अवस्था प्रजनन तंत्र के रोग कहलाती है। इसके अर्न्तगत बांझपन आदि रोगों का वर्णन आता है।

4.6.2 मानसिक रोग– मनुष्य द्वारा मानसिक क्रियाओं अथवा कार्यो को भली प्रकार सम्पादित नही कर पाने की अवस्था मानसिक रोग कहलाती है। मन में अपनी एक विषेश प्रकार की ऊर्जा होती है जिसे मानसिक ऊर्जा की संज्ञा दी जाती है। इसके माध्यम से विभिन्न मानसिक कार्य किए जाते हैं, विषयों पर विचार मंथन किया जाता है, तर्क वितर्क किया जाता है, पूर्व की अनुभूतियों को संचित किया जाता है तथा भविष्य की योजनाओं का निर्माण किया जाता है। जब इस मानसिक ऊर्जा में वृद्धि अथवा कमी (असन्तुलन) हो जाती है तब इस असन्तुलन की अवस्था में उपरोक्त मानसिक कार्य भली भांति सम्पादित नही हो पाते अथवा इन मानसिक कार्यो में बाधा उत्पन्न होने लगती है, इस अवस्था को मानसिक रोग अथवा मनोरोग कहा जाता है। कुछ विद्वानों द्वारा इसकी व्याख्या मानव व्यवहार के साथ जोडकर करते हुए कहा गया है कि यदि किसी मनुष्य के व्यवहार में सकारात्मकता का अभाव है तथा

वह व्यक्ति दूसरों के साथ अपना सामंजस्य स्थापित नही कर पाता है तब उस व्यक्ति को मानसिक रोगी की श्रेणी में रखा जा सकता है। अध्ययन के दृष्टिकोण से मानसिक रोगों को मुख्य रुप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

(A) **उत्तेजनात्मक प्रभाव वाले मानसिक रोग** : इसके अर्न्तगत उन मनोरोगों का वर्णन आता है जिसमें मानसिक ऊर्जा में असामसन्य रुप से वृद्धि हो रही होती है। मानसिक तनाव, उद्विग्नता, क्रोध, ईष्या, बैचेनी एवं अनिन्द्रा, आदि रोग इस वर्ग के रोग हैं।

(B) **शामक प्रभाव वाले मानसिक रोग** : इसके अर्न्तगत उन मनोरोगों का वर्णन आता है जिसमें मानसिक ऊर्जा में असामसन्य रुप से कम हो जाती है। मानसिक अवसाद, उत्साह का अभाव, चिन्ता, घबराहट, स्मरण शक्ति में कमी, अतिनिन्द्रा व आलस्य आदि रोग इस वर्ग के रोग हैं।

प्रिय विधार्थियों मानसिक रोगों का प्रभाव मन के साथ साथ शरीर पर भी पडता है। मन की असन्तुलित ऊर्जा शरीर का चयापचय दर को भी असन्तुलित कर देती है जिससे शरीर के तंत्रों में विकृति (शारीरिक रोग) उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए मानसिक तनाव की अवस्था में उत्तेजक हार्मोन्स का स्रावण अधिक मात्रा में होने के कारण रक्तचाप बढ जाता है, जो हृदय पर प्रतिकूल प्रभाव रखता हुआ हृदय रोग को जन्म देता है। इस प्रकार मानसिक तनाव का सम्बन्ध हृदय के साथ स्वीकार करते हुए आधुनिक चिकित्सक अधिकांश शारीरिक रोगों को रोगों को मनोशारीरिक रोगों (Pshycosomatic Disease) की श्रेणी में रखते हैं जिनकी उत्पत्ति मन से होने के बाद जिनका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पडता है।

4.6.3 आध्यात्मिक रोग– आध्यात्मिक रोगों का सम्बन्ध आत्मा की ऊर्जा से होता है । आत्मा की यह ऊर्जा आध्यात्मिक ऊर्जा (चेतना) कहलाती है। इस ऊर्जा के माध्यम से आत्मा क्रियावान एवं बलवान बना रहता है जबकि इस ऊर्जा के अभाव में आत्मा बलहीन हो जाता है। आत्मा की यह बलहीनता एवं रुग्णता की अवस्था आध्यात्मिक रोगों को जन्म देती है।

विकृत आहार विहार करते हुए कुमार्ग पर चलने से, भजन, कीर्तन, सत्संग एवं स्वाध्याय आदि के अभाव से आत्मा की आध्यात्मिक ऊर्जा क्षीण पड जाती है तथा वह व्यक्ति आध्यात्मिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। आध्यात्मिक ऊर्जा के क्षीण पडने का नकारात्मक प्रभाव मानसिक एवं शारीरिक स्तर पर भी पडता है इससे उसकी मानसिक एवं शारीरिक ऊर्जा भी कमजोर पड जाती है तथा इसी कारण आध्यात्मिक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति जल्दी ही मानसिक एवं शारीरिक रोगों की चपेट में भी आ जाता है। तार्त्पय यह कि आध्यात्मिक रोग मानसिक एवं शारीरिक रोगों की तुलना में अधिक गम्भीर होते हैं जो व्यक्ति के मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य को भी प्रभावित करते हैं। आध्यात्मिक रोगों के अर्न्तगत आत्मबल में कमी, आन्तरिक भय की अनुभूति, आन्तरिक अशान्ति, कमजोर एवं प्रभावहीन व्यक्तित्व एवं हीनता के भाव आदि रोगों का वर्णन आता है।

प्रिय पाठकों वैदिक शास्त्रों (उपनिषद्) में उदाहरण देकर समझाया गया है कि जो सम्बन्ध एक रथ, सारथी एवं रथी का होता है, वही सम्बन्ध शरीर ,मन एवं आत्मा का होता है। वहां पर शरीर की तुलना रथ के साथ, मन की तुलना सारथी के साथ एव आत्मा की तुलना रथी के साथ की गयी है। जिस प्रकार रथ, सारथी एवं रथी आपस में गहराई से जुडे होते हैं, उसी प्रकार शरीर, मन एवं आत्मा का आपस में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इस घनिष्टता के कारण शारीरिक रोग, मानसिक रोग एवं आध्यात्मिक रोग एक दूसरे के पूरक होते हैं अर्थात शरीर रुपी रथ में शारीरिक रोग होते ही मन रुपी सारथी में मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं जो आगे चलकर आत्मा रुपी रथी में भी हलचल अर्थात आध्यात्मिक रोगों को पैदा कर देते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ माधवनिदान में रोग के प्रकारों पर प्रकाश डालते हुए इसमें तीन प्रकार के रोगों का वर्णन किया गया है–

(A)कर्मज रोग –अकरणीय कर्मो के परिणामस्वरुप उत्पन्न रोग कर्मज रोग कहलाते है। ये रोग योग्य कर्मों को करने से ठीक हो जाते हैं।

(B)दोषज रोग –वात,पित्त कफ नामक त्रिदोषों की विषमता उत्पन्न रोग दोषण रोग कहलाते है।यें रोग औषधियों के सेवन से ठीक हो जाते है।

(C)उभयज रोग –इन दोनों अवस्थाओं से उत्पन्न रोग उभयज रोग कहलाते हैं। यें रोग योग्यकर्मो, औषधियों के साथ–साथ जप, तप व दान आदि से ठीक हो जाते हैं।

शरीर में होने वाली पीडा अथवा कष्टों के आधार पर रोगों को चार भागों में बांटा जाता है–

(A) शारीरिक रोग – हाथ–पैर, पेट व सिर आदि शारीरिक अगों में होने वाली पीडा शारीरिक रोग कहलाती है।

(B) मानसिक रोग – काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईष्या, द्वेष आदि विकारों के कारण उत्पन्न होने वाली पीडा मानसिक रोग कहलाती है।

(C) आगन्तुक रोग – दैवीय आपदा जैसे अत्यधिक गर्मी, सर्दी, बरसात आदि के कारण उत्पन्न पीडा आगन्तुक रोग कहलाती है।

(D) स्वभाविक रोग – भूख–प्यास, निन्द्रा–अनिन्द्रा आदि प्रतिदिन की अनुभूतियों से उत्पन्न पीडा स्वभाविक रोग कहलाती है।

प्राकृतिक चिकित्सा में रोग के दो वर्गों (प्रकारों) का वर्णन किया गया है–

(A) त्रीव रोग (Acute Disease)

(B) जीर्ण रोग (Chronic Disease)

(A) त्रीव रोग (Acute Disease) :

त्रीव रोगों से तात्पर्य उन रोगों से होता है जो तेजी से शरीर में आते है एवं उसी त्रीवता के साथ शरीर से चले जाते हैं। इन रोगों के द्वारा शरीर की सफाई होती है तथा सफाई होने से शरीर की जीवनी शक्ति एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है। इस प्रकार इन त्रीव रोगों को शरीर के लाभकारी अर्थात मित्र रोगों की श्रेणी में रखा जाता है। त्रीव रोग साध्य श्रेणी के रोग होते हैं। त्रीव जुकाम, बुखार, खाँसी, वमन एवं पेचिश आदि इस वर्ग के रोग हैं।

(B) जीर्ण रोग (Chronic Disease) :

जीर्ण रोगों से तात्पर्य उन रोगों से होता है जो धीरे धीरे शरीर में आते है एवं शरीर में आने के बाद शरीर में ही ठहर जाते हैं। इन रोगों की समयावधि बहुत अधिक होती है तथा समायावधि अधिक होने से इन रोगों के कारण शरीर की जीवनी शक्ति एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है। इन जीर्ण रोगों को जीवन के लिए घातक माना जाता है क्योकि ये रोग शरीर की जीवनी शक्ति को कम करते हुए मृत्यु की ओर ले जाते हैं। लम्बे समय का जुकाम, बुखार, खाँसी, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग एवं कैसंर आदि इस वर्ग के रोग हैं।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– **सत्य असत्य**

(क) रोग का अर्थ शरीर, मन एवं आत्मा की नकारात्मक अवस्था से होता है

(ख)शरीर में विषाक्त तत्वों की मात्रा बढने पर शरीर की जीवनी शक्ति भी बढ जाती है

(ग) आध्यात्मिक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति जल्दी से मानसिक एवं शारीरिक रोगों की चपेट में नही आता है।

(घ) शारीरिक रोग मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगों की तुलना में अधिक गम्भीर होते हैं

(ड) स्पर्श चिकित्सा (रैकी) के अनुसार शरीर में नकारात्मक ऊर्जा की अधिकता ही रोग का मूल कारण है।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) शारीरिक रोग, मानसिक रोग एवं आध्यात्मिक रोग एक दूसरे के ..... होते हैं।

(ख) मन की असन्तुलित ऊर्जा शरीर की ..... को असन्तुलित कर देती है।

(ग) त्रीव रोगों को ..... की श्रेणी में रखा जाता है।

(घ) बाÞय वातावरण में उपस्थित विषाणुओं, जीवाणुओं एवं रोगाणुओं से शरीर की सुरक्षा सही प्रकार नही करने की अवस्था ..... तंत्र के रोग कहलाती है।

(ड) योग चिकित्सा एवं प्राण चिकित्सा के अनुसार शरीर में ..... का ह्रास होना ही रोग का मूल कारण है।

3–बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) मानव रोगों को कुल कितने वर्गो में वर्गीकरत किया गया है–

(a) तीन (b) पांच

(c) आठ (d) ग्यारह

(ख) मन से उत्पन्न होने के बाद सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करने वाले रोग कहलाते हैं –

(a) शारीरिक रोग (b) मानसिक रोग

(c) आध्यात्मिक रोग (d) मनोशारीरिक रोग

(ग) दूसरों के साथ अपना सामंजस्य स्थापित नही कर सकने वाले व्यक्ति को किस श्रेणी में रखा जा सकता है–

(a) मानसिक रोगी की (b) शारीरिक रोगी की

(c) आध्यात्मिक रोगी की (d) इनमें से कोई नही।

(घ) मधुमेह, थायराइड, बौनापन व बांझपन आदि रोगों का सम्बन्ध किस तन्त्र से है–

(a) पाचन तन्त्र (b) अन्तःस्रावी तन्त्र

(c) श्वसन तन्त्र (d) उर्त्सजन तन्त्र

(ड) एलोपैथी चिकित्सा पद्धति के अनुसार शरीर में रोग का मूल कारण है

(a) बाहय रोगाणु (जीवाणु अथवा विषाणु) (b) भौतिक कारण

(c) हार्मोन्स (d) सभी

4.7 सारांश

प्रिय पाठकों प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त यह स्पष्ट होता है कि रोग का अर्थ विषम, विपरीत अथवा प्रतिकूल अवस्था से है जबकि स्वास्थ्य का अर्थ सम अथवा अनुकूल अवस्था से है। विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में रोग रुपी प्रतिकूल अवस्था को अलग–अलग रुपों में अभिवयक्त किया गया हैं।

रोग को आचार्य सुश्रुत अपने ग्रथं सुश्रुत संहिता में अत्यन्त स्पष्ठ रुप में परिभाषित करते है तथा रोगों की अनुपस्थिति मा=ा को ही स्वास्थ्य नही कहते हुये स्वास्थ्य शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक रूपों में अभिव्यक्त करते हैं।

रोगों के कारणों के सन्दर्भ में अलग–अलग चिकित्सा पद्धतियों में अलग–अलग धारणायें प्रस्तुत की गयी हैं जिसका सविस्तार वर्णन हमने प्रस्तुत इकाई में किया हैं।रोगों के कारणों के सन्दर्भ में उपनिषद साहित्य में वर्णित प्रारब्ध एवं कुपथ्य जन्य रोगों का वर्णन आधुनिक समय में भी उचित सा प्रतीत होता है।

रोगों का वर्गीकरण शारीरिक रोग, मानसिक रोग एवं आध्यात्मिक रोगों के रूप में किया गया है।शारीरिक रोगों का सम्बन्ध शरीर के विभिन्न तंत्राो के साथ मानसिक रोगो का सम्बन्ध मन एवं मानसिक ऊर्जा के साथ तथा आध्यात्मिक रोगों का सम्बन्ध आत्मा एवं आध्यात्मिक ऊर्जा के साथ वर्णित किया गया है।

अन्त में प्रस्तुत इकाई में प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार रोगो को दो वर्गों–व्रीव रोग एवं जीर्ण रोग पर प्रकाश डाला गया है। यहां स्पष्ट किया गया है कि व्रीव रोग शरीर के लिये अत्यन्त लाभकारी अर्थात मित्रा रोग होते है जो साध्य श्रेणी के रोग है जबकि इसके विपरीत जीर्ण रोग शरीर के लिये हानिकारक अर्थात शत्रु होते है जो असाध्य श्रेणी के रोग होते हैं, का उल्लेख प्रस्तुत इकाई में किया गया है।

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

ह्रास	क्षय होना अथवा कमजोर पडना
परिलक्षित होना	व्यक्त अथवा प्रर्दशित होना
पूरक	निर्भर या आश्रित होना

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	सत्य	क.	पूरक	क.	d
ख.	असत्य	ख.	चयापचय दर	ख.	d
ग.	असत्य	ग.	मित्र रोग	ग.	a
घ.	असत्य	घ.	प्रतिरक्षा	घ.	b
ड.	सत्य	ड.	जीवनी शक्ति	ड.	d

4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कल्याण आरोग्य अंक – गीता प्रेस गोरखपुर।
2. मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान– प्रो0 अनन्त प्रकाश गुप्ता, सुमित प्रकाशन, आगरा।
3. शरीर और शरीर क्रिया विज्ञान – मंजु तथा महेश चन्द्र गुप्ता, सांई प्रिन्ट, नई दिल्ली।
4. स्वस्थवृत्त विज्ञान– प्रो0 रामहर्ष सिंह , चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
5. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान– डा0 राकेश जिन्दल, आरोग्य सेवा प्रकाशन, मुरादनगर (उ0 प्र0) ।
6. प्राकृतिक चिकित्सा – राम गोपाल शर्मा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. एक्यूप्रेशर – डा0 अतर सिंह, एक्यूप्रेशर हैल्थ सेटंर, चण्डीगढ।

4.11 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. रोग के अर्थ को विभिन्न परिभाषाओं द्वारा स्पष्ट किजिए।
2. रोग के विभिन्न वर्गों (प्रकारों) पर सविस्तार प्रकाश डालिए।
3. रोग उत्पन्न होने के विभिन्न कारणों को सविस्तार लिखिए।

इकाई 5 रोगी तथा निरोगी व्यक्ति के लक्षण

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 रोगी व्यक्ति के लक्षण
5.3.1 शारीरिक रोगी व्यक्ति के लक्षण
5.3.2 मानसिक रोगी व्यक्ति के लक्षण
5.3.3 आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति के लक्षण
5.4 निरोगी व्यक्ति के लक्षण
5.4.1 शारीरिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण
5.4.2 मानसिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण
5.4.3 आध्यात्मिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण
5.5 रोगी एवं निरोगी व्यक्ति में अन्तर
5.6 सारांश
5.7 पारिभाषिक शब्दावली
5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, पूर्व की इकाई में आपने रोगों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया तथा रोगों के कारणों एवं प्रकारों के विषय में जाना। अब इन रोगों के विषय में जानने के उपरान्त आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उपस्थित हुआ होगा कि हम रोगी और निरोगी व्यक्ति के बीच कैसे अन्तर कर सकते है अर्थात हम किस व्यक्ति को रोगी व्यक्ति कह सकते हैं और किस व्यक्ति को निरोगी व्यक्ति कह सकते हैं। शारीरिक रोग, मानसिक रोग एवं आध्यात्मिक रोगों के विषय में जाननें के उपरान्त अब यह जानना भी अनिवार्य हो जाता है कि इन रोगों से ग्रस्त व्यक्ति के लक्षण क्या क्या होते हैं और किन लक्षणें के आधार पर हम किसी मनुष्य को रोगी और निरोगी सि़द्ध कर सकते हैं।

वास्तव में मूल रुप में मनुष्य स्वस्थ ही होता है किन्तु विकृत आहार विहार एवं अव्यवस्थित दिनचर्या एवं रात्रिचर्या के परिणाम स्वरुप उसके अन्दर कुछ ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं जिससे उसकी गणना रोगी पुरुष में होने लगती है। ये लक्षण कौन कौन से होते हैं और किस किस रुप में प्रकट होते हैं, प्रस्तुत इकाईं में हम इन्ही बिन्दुओं पर विचार मंथन करेगें एवं जान सकेंगे कि कौन व्यक्ति रोगी की श्रेणी में आता है और किस व्यक्ति को हम निरोगी व्यक्ति की श्रेणी में रख सकते हैं।

यह अत्यन्त व्यापक एवं रोचक विषय है जिसका सम्बन्ध समाज के प्रत्येक मनुष्य के साथ है क्योंकि समाज के प्रत्येक मनुष्य में यह जिज्ञासा अवश्य होती है कि वह निरोगी पुरुष की श्रेणी में आता है अथवा रोगी पुरुषों की। इस जिज्ञासा का उत्तर हम इस इकाई में वर्णित लक्षणों के आधार दें सकते हैं। इसके साथ साथ इन लक्षणों के आधार पर ही रोगों का सरल एवं सामान्य उपचार किया जा सकता है अतः हम पर के इस व्यापक स्वरुप को जानने के बाद अब आपके मन में रोगों के अर्थ, कारण तथा वर्गीकरण (प्रकरों) को जानने की जिज्ञासा उत्पन होनी स्वाभाविक है अतः अब हम रोगी तथा निरोगी व्यक्ति के लक्षणों का सविस्तार अध्ययन करेंगे।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- रोगी व्यक्ति के लक्षणों की व्याख्या कर सकेंगे।
- निरोगी व्यक्ति के लक्षणों की विवेचना कर सकेंगे।
- शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगी को परिभाषित करने में सक्षम हो सकेंगे।
- रोगी एवं निरोगी व्यक्ति में अन्तर समझाने में सक्षम हो सकेंगे।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

5.3 रोगी व्यक्ति के लक्षण

एक रोगी व्यक्ति शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर अपने सामान्य कार्यों को भली– भांति नही कर पाता है अर्थात उस व्यक्ति के शारीरिक कार्य जैसे भोजन का पाचन, श्वसन, उत्र्सजन व रक्त परिभ्रमण आदि कार्य अव्यवस्थित हो जाते हैं। मानसिक स्तर पर उसे निरसता, उदासी, तनाव, क्रोध, ईष्या, घबराहट एवं बैचेनी आदि उद्वेगों की अनुभूति होने लगती है। आध्यात्मिक स्तर पर भी ऊर्जा की कमी होने पर रोगी व्यक्ति के अन्दर आत्महीनता के भाव उत्पन्न हो जाते है। इस प्रकार शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक कार्यों का अव्यवस्थित होना क्रमशः शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। अब हम इन शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति के लक्षणों का सविस्तार अध्ययन करेगें

5.3.1 शारीरिक रोगी व्यक्ति के लक्षण

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मानव शरीर को ग्यारह तंत्रों में विभाजित करता है, इन ग्यारह तंत्रों का सुव्यवस्थित रुप में कार्य करना ही शारीरिक स्वास्थ्य है अर्थात इन तंत्रों का भलि भांति कार्य करना शारीरिक सवस्थ व्यक्ति के लक्षण हैं जबकि इन तंत्रों में विकार उत्पन्न होना शारीरिक रोगी व्यक्ति के लक्षण है। मानव शरीर के तंत्रों के आधार पर शारीरिक रोगी व्यक्ति के लक्षण इस प्रकार हैं–

(L) **पाचन तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण :** समय पर ठीक तरह से भूख नही लगना, ग्रहण किए गये भोजन का ठीक प्रकार से पाचन नही होना तथा मल पदार्थो का शरीर से ठीक प्रकार से निष्कासन नही होना पाचन तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। इसके अर्न्तगत भोजन ग्रहण करने के उपरान्त पेट में भारीपन रहना, खट्टी डकारें आना, गैस बनना आदि लक्षणों का वर्णन भी आता है।

(M) **श्वसन तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण :** श्वास– प्रश्वास की क्रिया में कठिनाई उत्पन्न होना श्वसन तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। इसके अर्न्तगत श्वास नलिका में जकडन, कफ की अधिकता, गले में टॉसिल्स, खांसी एवं जुकाम आदि लक्षणों का वर्णन आता है।

(N)**उत्सर्जन तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण** : शरीर की उर्त्सजन क्रिया में बाधा होना उर्त्सजन तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। शरीर से मूत्र के रुप में उत्सर्जी पदार्थो की सही मात्रा निष्कासित नही होने की अवस्था उत्सर्जन तंत्र रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। व`क्क में सूजन, जलन, भारीपन व बहुमूत्र आदि लक्षण व्यक्ति को रोगी की श्रेणी में रखते हैं।

(O) **अस्थि तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण** : शरीर को आकृति एवं ढाँचा प्रदान करने वाली अस्थियों एवं उपास्थियों में विकृति उत्पन्न होना अथवा किसी दुर्घटना आदि के कारण अस्थियों का टूट जाना अस्थि तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण है। शरीर की लम्बाई ठीक नही होना भी अस्थि तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(P) **पेशिय तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण** : शरीर के जोडों में सूजन, दर्द एवं जकडन पेशिय तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। कमर दर्द, गर्दन दर्द, हाथों–पैरों में दर्द, चलने में कठिनाई एवं लिगामेंटस में खिचाव व दर्द का सम्बन्ध पेशिय तंत्र के साथ है तथा ये लक्षण पेशिय तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(Q) **अध्यावरणीय तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण** : त्वचा में अधिक लालीपन, खुजली, जलन, दाने, फोडे फुसीं आदि लक्षण अध्यावरणीय तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(R) **रक्त परिसंचसण तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण** : रक्त में स्थित लाल रक्त कणों, श्वेत रक्त कणों व प्लेटलेट्स की संख्या सामान्य से कम अथवा अधिक होना रक्त परिसंचरण तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। हृदय का रोगग्रस्त होना एवं रक्तवाहीनियों में रक्त का सामान्य से कम अथवा अधिक दबाव से परिभ्रमण करना रक्त परिसंचसण तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण है।

(S) **अन्तःस्रावी तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण** : शरीर में स्थित अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों का अव्यवस्थित रुप से स्रावित होना अन्तःस्रावी तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण है। शरीर की चयापचय दर का असन्तुलित होना, बौनापन, बाँझपन, थायराइड, मधुमेह तथा अनिन्द्रा आदि लक्षणों का सम्बन्ध अन्तःस्रावी तंत्र के साथ है।

(T)**प्रतिरक्षा तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण** : जुकाम होना, एलर्जी होनी, बुखार होना, टॉसिल्स बढना व उल्टी–दस्त आदि संक्रामक रोगों का बार–बार होना एवं जल्दी से ठीक नही होना प्रतिरक्षा तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण है।

(U) **तंत्रिका तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण** : शरीर की नस–नाडियों पर नियंत्रण का अभाव, दुर्बल स्मरण शक्ति, हाथों–पैरों में कम्पन्न व शरीर के अंगों में सुन्नपन रहना अथवा चिटियों के रेंगनें जैसी अनुभूति होना तंत्रिका तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण है।

(V) **प्रजनन तंत्र के रोग** : पुरुषों में पुरुषत्व का अभाव एवं नारियों में नारीत्व का अभाव प्रजनन तंत्र के रोगी व्यक्ति के लक्षण है।

5.3.2 मानसिक रोगी व्यक्ति के लक्षण

प्रिय विधार्थियों शारीरिक रोग के अतिरिक्त मानसिक रोग से ग्रस्त व्यक्ति कहीं अधिक कष्टों को प्राप्त होता है। एक मानसिक रोगी व्यक्ति कहीं पर भी सुख एवं चैन प्राप्त नही कर पाता है। मानसिक रोग

से ग्रस्त हाने का प्रभाव शरीर पर भी पडता है तथा इसके परिणाम स्वरुप शारीरिक रोग भी जन्म लेने लगते है। एक मानसिक रोगी व्यक्ति के अन्दर निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं–

(C) मानसिक ऊर्जा में असामान्य रुप से वृद्धि होने के परिणाम स्वरुप मानसिक तनाव, उद्विग्नता, क्रोध, ईष्या एवं बैचेनी आदि लक्षणों का प्रकट होना एक मानसिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। कुछ अवस्थओं में इसके शरीर में सुक्ष्म कम्पन्न भी होने लगता है। इस व्यक्ति की नींद बहुत कम हो जाती है तथा वह प्रतिक्षण उत्तेजना से ग्रस्त रहता है।

(D) मानसिक ऊर्जा में असामान्य रुप से कमी होने के परिणाम स्वरुप मानसिक अवसाद, निराशा, शोक, मूढता एवं घबराहट आदि लक्षणों का प्रकट होना एक मानसिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। इस व्यक्ति के शरीर में आलस्य, भारीपन, कार्यों में अरुचि एवं अतिनिन्द्रा आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

(E) मानसिक स्तर पर सांवेगिक अस्थिरता मानसिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। छोटी–छोटी बातों पर गुस्सा करना, दूसरों के साथ झगडा करना, समय पर कार्य नही करना, अनुशासन को नही अपनाना, धैर्य की कमी होना, सही एवं गलत का निर्णय ठीक प्रकार से नही कर पाना अर्थात बुद्धिमत्ता का अभाव होना तथा गलत दिनचर्या को अपनाते हुए विकृत आहार विहार का सेवन करना मानसिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(F) अपने आसपास के वातावरण, परिवार एवं समाज के अन्य व्यक्यिों के साथ सामन्जस्य का अभाव होना एक मानसिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। ऐसे मानसिक रोगी व्यक्ति का स्वभाव चिडचिढा रहता है तथा वह अन्य व्यक्तियों के साथ अच्छे सम्बन्ध नही बना पाता है।

5.3.3 आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति के लक्षण

शरीर एवं मन का संचालन आत्मा से होता है, इस आत्मा में ऊर्जा (आध्यात्मिक ऊर्जा) के असन्तुलन की अवस्था में आध्यात्मिक रोग उत्पन्न होते हैं। एक आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति के निम्न लिखित लक्षण होते हैं–

(A) ईश्वर के प्रति नास्तिकता के भाव रखते हुए स्वंम को पूजा–पाठ, हवन, यज्ञ, प्रार्थना आदि कर्मकाण्डों एवं सत्कार्यों से दूर कर लेना एवं स्वंम को बुरे रास्ते पर बुराईयों के साथ जोडकर अपना जीवन यापन करना एक आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(B) शारीरिक एवं मानसिक कार्यो पर नियंत्रण का अभाव होना एक आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति का सबसे प्रमुख लक्षण है। इस व्यक्ति को अपने द्वारा किए जाने वाले कार्यों का भलि भांति ज्ञान अथवा अनुभूति नही होती है। ऐसा व्यक्ति स्वंम में ही खोया–खोया सा रहता है एवं दूसरों के साथ अपने दुख, पीड़ा अथवा कष्टों को नही बांटता हैं।

(C) किसी भी छोटे–बडे दुख अथवा समस्या के आने स्वमं को दुख एवं पीडा में डूबा अनुभव करना तथा हीनता के भावों से ग्रस्त होकर जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को अपना लेना आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(D) जीवन में प्रेम, विनम्रता, परिश्रम, ईमानदारी, उत्साह, उमंग, हर्ष, उल्लास एवं सकारात्मक भावों के स्थान पर घृणा, द्वेष, शोक, निराशा, हताशा, चिन्ता एवं नकारात्मक भावों को अपनाते हुए नीरस रुप में जीवनयापन करना आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(E) कभी भी दूसरों के काम नही आना तथा दूसरों के जीवन व कार्यों में व्यवधान उत्पन्न करना एक आध्यात्मिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

5.4 निरोगी व्यक्ति के लक्षण

एक निरोगी व्यक्ति के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य सुश्रुत आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में लिखते हैं–

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रिय।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभीधियते।।

(सुश्रुत संहिता 15/41)

अर्थात जिसके त्रिदोष सम अवस्था में हैं, जिसके शरीर में अग्नियों का व्यापार सम है, जिसके शरीर में धातुएं सम मात्रा में उपस्थित हैं तथा शरीर में मलों की सम स्थिति है। इसके साथ साथ जिसकी इन्द्रियां, मन व आत्मा में प्रसन्नता के भाव हैं, वही व्यक्ति स्वस्थ अर्थात निरोगी है।

इस प्रकार यहां पर आचार्य सुश्रुत स्वस्थ अथवा निरोगी व्यक्ति के तीन पक्षों अर्थात शारीरिक स्वस्थ व्यक्ति, मानसिक स्वस्थ व्यक्ति एवं आध्यात्मिक स्वस्थ व्यक्ति पर प्रकाश डालते हैं, इनका सविस्तार वर्णन इस प्रकार है–

5.4.1 शारीरिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार मानव शरीर के सभी तंत्रों का सुव्यवस्थित रुप में अपने कार्यों को करना एक शारीरिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण है अर्थात वह व्यक्ति जिसके शरीर के सभी तंत्र अपने कार्यों को भलि भांति सम्पादित कर रहे हैं, एक शारीरिक निरोगी व्यक्ति है। इसके साथ– साथ कुछ निम्न लिखित लक्षणों को भी शारीरिक निरोगी व्यक्ति के लक्षणों के रुप में देखा जाता है–

(A) सही समय पर अच्छी प्रकार से भूख लगनी चाहिए।
(B) ग्रहण किए भोजन का भलि प्रकार पाचन होना चाहिए।
(C) समय पर पेट साफ (शौच) होना चाहिए।
(D) मुख से दुर्गन्ध नही आनी चाहिए तथा शुद्ध डकार आनी चाहिए।
(E) अपान वायु शब्द एवं दुर्गन्ध रहित होनी चाहिए।

यहां पर आचार्य जैमीनी मुनि द्वारा उपदेशित इस तथ्य का वर्णन करना भी उचित प्रतीक होता है जिसमें जब आचार्य जेमीनी मुनि से पूछा – को¿रुक् , अर्थात निरोगी कौन है? तब इसके प्रतिउत्तर में आचार्य जैमीनि मुनि कहते हैं– हितभुक, अर्थात वह व्यक्ति जो अपने शरीर, मन और आत्मा के हितकर, पुष्टिकर तथा अनुकुल आहार का सेवन करता है, वह निरोगी व्यक्ति है। पुनः इसी प्रश्न के पूछे जाने पर आचार्यवर कहते हैं– मितभुक, अर्थात वह व्यक्ति जो परिमित आहार करता है, वही निरोगी व्यक्ति है। इन दोनों उत्तरों को मिलाने पर हम कह सकते हैं कि वह व्यक्ति जो हितकर, पुष्टिकर तथा अनुकुल आहार निश्चित समय पर एवं निश्चित मात्रा में करता है, वही निरोगी व्यक्ति है अथवा दूसरे शब्दों में यही निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

5.4.2 मानसिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण

मन में सकारात्मक ऊर्जा की पूर्णता एक मानसिक निरोगी व्यक्ति की पहचान है। इस ऊर्जा की प्रबलता के परिणामस्वरुप वह व्यक्ति सुव्यवस्थित दिनचर्या का पालन करता है। इस व्यक्ति में मानसिक स्थिरता पायी जाती है। इस मानसिक स्थिरता के कारण उसके शारीरिक एवं मानसिक कार्यों में समता पायी जाती है, ऐसा व्यक्ति सुख–दुख, लाभ–हानि, मान–अपमान, जय–पराजय आदि द्वन्दों एवं जीवन की विषम परिस्थितियों को सम भाव से सहन करता हुआ इनका सामना सहजता एवं सरलता के साथ करता है। एक मानसिक निरोगी व्यक्ति अपने जीवन में नकारात्मकता को स्थान नही देता है अपितु वह सकारात्मक दृष्टिकोण को अपनाता है। कुछ निम्न लिखित लक्षणों के आधार पर हम किसी व्यक्ति को मानसिक निरोगी व्यक्ति का श्रेणी में रख सकते हैं–

(A) मन में सकारात्मकता एवं प्रसन्नता के भावों का होना मानसिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। ऐसे व्यक्ति में सन्मार्ग एवं कुमार्ग में अन्तर करने ही क्षमता विकसित रुप में पायी जाती

है तथा यह व्यक्ति सदैव सन्मार्ग का चयन करता हुआ अपने जीवन में सत्कार्यों को हर्षोल्लास के साथ करता है।

(B) स्वंम पर नियंत्रण रखते हुए मानसिक स्तर पर सांवेगिक स्थिरता के भाव मानसिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। अपने समस्त कार्यों को बुद्धिपूर्ण ढगं से करने के साथ साथ अनुशासन को अपनाना तथा प्रातः काल से लेकर रात्रिकाल तक सुनिश्चित दिनचर्या का पालन करना एक मानसिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं। निश्चित समय पर जागरण एवं निश्चित समय पर शयन के साथ साथ शुद्ध सात्विक आहार विहार करना एक मानसिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(C) जीवन की कठिन तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में दूसरों पर गुस्सा करने के स्थान पर धैर्य के साथ अर्थात स्थिर मनोभाव के साथ उस कठिन उवं प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करना मानसिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(D) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा मनुष्य का अपने आसपास के वातावरण, परिवार एवं समाज के अन्य व्यक्यिों के साथ अच्छा आपसी तालमेल होना एक मानसिक निरोगी व्यक्ति का लक्षण हैं। एक मानसिक निरोगी व्यक्ति अत्यन्त संवेदनशीलता के साथ व्यवहार करता हुआ दूसरों के सुख–दुख को बाटंता है। वह अन्य व्यक्तियों के साथ श्रेष्ठता, शालीनता, सभ्यता एवं शिष्टाचार का व्यवहार करता है इस कारण उसकी आस पास के लोगों से घनिष्टता पायी जाती है अर्थात व्यवहार में सामाजिकता, शालीनता, सभ्यता व श्रेष्ठता आदि गुणों का होना एक मानसिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

5.4.3 आध्यात्मिक निरोगी व्यक्ति के लक्षण– प्रिय विधार्थियों जिस प्रकार पौष्टिक भोजन शरीर को पोषण प्रदान करता है, सद्विचार मन को ऊर्जा प्रदान करते हैं, ठीक इसी प्रकार सत्कार्य आत्मा को बल (आत्मबल) प्रदान करते है। अपने जीवन में सत्कार्य करने वाला व्यक्ति उच्च आत्मबल को प्राप्त करता हुआ आध्यात्मिक स्तर पर निरोगी जीवन यापन करता है। एक आध्यात्मिक निरोगी व्यक्ति के निम्न लिखित लक्षण होते हैं–

(A) एक आध्यात्मिक निरोगी व्यक्ति ईश्वर में पूर्ण निष्ठा रखते हुए स्वंम को निमित्त मात्र मानकर अपने समस्त कार्यों को ईश्वर को समर्पित करते हुए करता है अर्थात वह अपने जीवन को ईश्वर समर्पण के भावों से युक्त होकर जीता है।

(B) एक आध्यात्मिक निरोगी व्यक्ति हवन, सन्धा, पूजा–पाठ, दान–दक्षिणा आदि कार्यों को पूर्ण निष्ठा के साथ करता है। वह जीवन में सत्कार्यों एवं परोपकार को स्थान देता हुआ दूसरो के दुखों, कष्टों व पीडाओं को दूर करने के लिए प्रयासरत रहता है।

(C) एक आध्यात्मिक निरोगी व्यक्ति सुख, शान्ति एवं आनन्द के साथ सुव्यवस्थित रुप में अपना जीवन यापन करता है। वह अपने प्रत्येक कार्य शुभ संकल्प से प्ररित होकर सुव्यवस्थित रुप से करता है।

(D) एक आध्यात्मिक निरोगी व्यक्ति की समस्त शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएं सुव्यवस्थित होती हैं। इसका अपने शरीर एवं मन पर पूर्ण नियंत्रण रहता है।

(E) एक आध्यात्मिक निरोगी व्यक्ति अहिंसा, सत्य, आदि योगांगों का पालन करता हुआ स्थिर मनोभाव से ब्रह्मम में लीन रहता है, वह स्वर्ण तथा लौह में समान दृष्टि (समभाव) रखता है।

(F) ऐसा व्यक्ति उच्च आत्मबल एवं बहुमखी व्यक्तित्व का धनी होता है। इसके कार्यों में दिव्यता पायी जाती है। वह स्वार्थ एवं संर्कीणता की भावना से उपर उठकर अपने जीवन को आर्दश रुप में जीते हुए समाज में प्रेरणा का स्रोत बनता ळें

5.5 रोगी एवं निरोगी व्यक्ति में अन्तर

प्रिय विधार्थियों रोगी एवं निरोगी व्यक्ति के लक्षणों का अध्ययन करने के उपरान्त अब आपके मन में रोगी एवं निरोगी व्यक्ति में अन्तर को जानने की इच्छा अवश्य उत्पन्न हुई होगी अर्थात किन किन लक्षणों के आधार पर प्रकार हम रोगी व निरोगी व्यक्ति में अन्तर कर सकते हैं, इस अन्तर को हम निम्न सारणी से आसानी से स्पष्ट कर सकते हैं–

अन्तर

निरोगी व्यक्ति के लक्षण	रोगी व्यक्ति के लक्षण
1. निरोगी व्यक्ति के शरीर के सभी तंत्र स्वस्थ एवं सक्रिय बने रहते हैं।	1. रोगी व्यक्ति के शरीर के तंत्र भली भांति कार्य नही करते हैं तथा ये कम क्रियाशील अथवा विकारों से ग्रस्त होकर कार्य करते हैं।
2. निरोगी व्यक्ति का शरीर शारीरिक रोगों से मुक्त रहता है।	2. रोगी व्यक्ति का शरीर शारीरिक रोगों से ग्रस्त रहता है।
3. निरोगी व्यक्ति के शरीर एवं मन में किसी प्रकार की पीडा नही होती है।	3. रोगी व्यक्ति के शरीर एवं मन में अनेकों प्रकार की पिड़ाएं रहती है।
4. निरोगी व्यक्ति अपने सभी कार्य बुद्धिपूर्ण, विवेकपूर्ण एवं सुव्यवस्थित रुप से करता है।	4. रोगी व्यक्ति के कार्य बुद्धिहीनतापूर्ण, अविवेकपूर्ण एवं अव्यवस्थित रुप से किए जाते है।
5. निरोगी व्यक्ति निश्चित दिनचर्या एवं रात्रिचर्या का पालन करता हुआ अनुशासित ढंग से अपना जीवन यापन करता है।	5. रोगी व्यक्ति की कोई निश्चित दिनचर्या एवं रात्रिचर्या नही होती है।
6. साफ स्वच्छ चिन्तन, त्रीव स्मरण शक्ति, दूसरों के साथ अच्छा समायोजन एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व एक निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।	6. नकारात्मक चिन्तन, दुर्बल स्मरण शक्ति, कार्यों एवं दूसरों के साथ कुसमायोजित व्यवहार तथा प्रभावहीन व्यक्तित्व एक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।
7. नित्यप्रति पूजा, प्रार्थना, जप, पाठ, दान दक्षिणा एवं यज्ञ हवन में रुचिपूर्वक भाग लेना एक निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।	7. सत्कार्यों के स्थान पर कुमार्ग का अनुसरण करना एक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।
8. एक निरोगी व्यक्ति का अपने शरीर (इन्द्रियों) एवं मन पर पूर्ण नियंत्रण रहता है।	8. एक रोगी व्यक्ति का अपने शरीर एवं मन पर कोई नियंत्रण नही रहता है।
9. उच्च आत्मबल एवं आर्दश जीवन शैली एक निरोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।	9. आत्महीनता एवं दीन हीन जीवन शैली एक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।
10. निरोगी व्यक्ति अपने जीवन को सुख एवं शान्ति पूर्वक व्यतीत करता है।	10.रोगी व्यक्ति का जीवन विभिन्न प्रकार के दुखों, कष्टों व पीडाओं से भरा होता है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– **सत्य असत्य**

(क) एक रोगी व्यक्ति का जीवन विभिन्न प्रकार के दुखों, कष्टों एवं पीडाओं से मुक्त होता है।

(ख) आध्यात्मिक स्तर पर ऊर्जा की कमी होने पर व्यक्ति के अन्दर आत्मबल बढ जाता है।

(ग) मानसिक स्तर पर सांवेगिक स्थिरता मानसिक रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

(घ) शरीर एवं मन का संचालन आत्मा से होता है।

(ड) इन्द्रियों, मन व आत्मा में प्रसन्नता के भाव रोगी व्यक्ति के लक्षण हैं।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) वास्तव में मूल रुप में मनुष्य ..... होता है।

(ख) आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मानव शरीर को ..... तंत्रों में विभाजित करता है।

(ग) कमर दर्द, गर्दन दर्द, हाथों–पैरों में दर्द एवं चलने में कठिनाई का सम्बन्ध ..... तंत्र के साथ है।

(घ) मानसिक रोग से ग्रस्त हाने का प्रभाव ..... पर भी पडता है।

(ड) सद्विचार मन को ..... प्रदान करते हैं।

3–बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) एक शारीरिक निरोगी व्यक्ति का लक्षण हैं–

(a) हर समय अच्छी भूख लगना (b) समय पर अच्छी भूख लगना

(c) समय पर कम भूख लगना (d) कभी भूख नही लगना।

(ख) एक मानसिक रोगी व्यक्ति का लक्षण हैं–

(a) मानसिक तनाव से ग्रस्त रहना (b) सांवेगिक अस्थिरता से ग्रस्त रहना

(c) सामंजस्य का अभाव (d) सभी।

(ग) एक आध्यात्मिक निरोगी व्यक्ति का लक्षण हैं–

(a) ईश्वर के प्रति सर्मपण के भाव (b) सत्कार्यों में लीन रहना

(c) शरीर एवं मन पर पूर्ण नियंत्रण (d) सभी।

(घ) मन में सकारात्मक ऊर्जा की पूर्णता किस वर्ग के व्यक्ति का लक्षण है–

(a) शारीरिक निरोगी (b) शारीरिक रोगी

(c) मानसिक निरोगी (d) मानसिक रोगी।

(ड) मितभुक का अर्थ है–

(a) अधिक आहार ग्रहण करना (b) परिमित आहार लेना

(c) पौष्टिक आहार लेना (d) सभी।

5.6 सारांश

प्रिय विधार्थियों, सारांश रुप में यह सिद्ध होता है कि शरीर, मन एवं आत्मा की विकारयुक्त अवस्था अथवा विषम अवस्था एक रोगी व्यक्ति का लक्षण है जबकि शरीर, मन एवं आत्मा की विकारमुक्त अवस्था अथवा सम अवस्था (समभाव) एक निरोगी व्रूक्ति के लक्षण हैं। शरीर की विषम अवस्था में शरीर के विभिन्न तंत्रों जैसे पाचन तंत्र, श्वसन तंत्र, उर्त्सजन तंत्र व रक्त परिसंचण तंत्र आदि तंत्रों से सम्बन्धित रोगों का वर्णन आता है। ये तंत्र रोगों से ग्रस्त होकर विभिन्न पूर्व वर्णित लक्षणों को प्रकट करते हैं। मानसिक ऊर्जा की विषम अवस्था के अर्न्तगत मानसिक रोगों का वर्णन आता है। इस अवस्था में मानसिक तनाव, अवसाद, चिन्ता, घबराहट, बैचेनी आदि रोग प्रकट होते हैं। आध्यात्मिक ऊर्जा की विषमता आध्यात्मिक रोगों के रुप में प्रकट होती है, इसके परिणाम स्वरुप व्यक्ति में नास्तिकता, आत्महीनता व अधार्मिकता आदि लक्षण प्रकट होते हैं। ऐसे व्यक्ति का आत्मबल कमजोर हो जाता है

तथा उसमें आत्महीनता के भाव प्रबल हो जाते हैं परिणाम स्वरुप उसे कहीं पर भी सुख व शान्ति नही मिलती है।

एक निरोगी व्यक्ति शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर स्वस्थ रहता हुआ अपने समस्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक कार्यों को सुव्यवस्थित रुप में करता है। एक निरोगी व्यक्ति अपने जीवन को अनुशासित एवं सुव्यवस्थित रुप में व्यतीत करता है, इसके द्वारा प्रत्येक कार्य समय पर एवं सुव्यवस्थित रुप से किए जाते हैं। ऐसा निरोगी व्यक्ति समय पर भोजन, भजन व अन्य कार्यों को विवेकपूर्ण ढगं से एवं सुव्यवस्थित रुप में करता है। ऐसे व्यक्ति के चरित्र में कर्मण्यता, बुद्धिमत्ता, चिन्तनता, विवेकता एवं धैर्यता आदि सकारात्मक गुणों का समावेश होता है।

एक निरोगी व्यक्ति अपने प्रत्येक कार्य को उत्साहपूर्ण ढंग से करता हुआ अपने जीवन को सुख शान्ति पूर्वक व्यतीत करता है। एक निरोगी व्यक्ति में ईश्वर के प्रति पूर्ण आस्था, निष्ठा एवं श्रद्वा के भाव होते हैं। वह स्वमं को ईश्वर के प्रतिनिधि के रुप में मानता हुआ कर्तापन के भाव से मुक्त होकर सर्मपण भाव से कार्य करता है। इसके कार्यों में स्वार्थ के स्थान पर परोपकार के भाव प्रबल होते हैं, ऐसा निरोगी व्यक्ति अपने अच्छे गुणों के कारण उच्च व्यक्तित्व का धनी होकर समाज में एक आर्दश प्रस्तुत करता है।

5.7 पारिभाषिक शब्दावली

परिमित	निश्चित मात्रा में
विचार मंथन	चिन्तन करना
उद्विग्न	उत्तेजित
अनुभूति होना	ज्ञान होना
व्यवधान	बाधा अथवा परेशानी
द्वन्द	कष्ट

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	असत्य	क.	स्वस्थ	क	b
ख.	असत्य	ख.	ग्यारह	ख.	d
ग.	असत्य	ग.	पेशिय	ग.	d
घ.	सत्य	घ.	शरीर	घ.	c
ड.	असत्य	ड.	ऊर्जा	ड.	b

5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कल्याण आरोग्य अंक – गीता प्रेस गोरखपुर।
2. मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान– प्रो0 अनन्त प्रकाश गुप्ता, सुमित प्रकाशन, आगरा।
3. शरीर और शरीर क्रिया विज्ञान – मंजु तथा महेश चन्द्र गुप्ता, सांई प्रिन्ट, नई दिल्ली।
4. स्वस्थवृत्त विज्ञान– प्रो0 रामहर्ष सिंह , चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
5. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान– डा0 राकेश जिन्दल, आरोग्य सेवा प्रकाशन, मुरादनगर (उ0 प्र0) ।
6. प्राकृतिक चिकित्सा – राम गोपाल शर्मा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. एक्यूप्रेशर – डा0 अतर सिंह, एक्यूप्रेशर हैल्थ सेटंर, चण्डीगढ।

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1 रोगी व्यक्ति के लक्षणों को सविस्तार लिखिए।
2. रोगी व्यक्ति एवं निरोगी व्यक्ति के लक्षणों में तुलनात्मक अध्ययन किजिए।
3. एक निरोगी व्यक्ति पर निबन्ध लिखिए।

इकाई 6 शारीरिक रोग की अवधारणा, कारण तथा वर्गीकरण

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 शारीरिक रोग की अवधारणा
6.4 शारीरिक रोग के कारण
6.5 शारीरिक रोगों का वर्गीकरण
6.6 सारांश
6.7 पारिभाषिक शब्दावली
6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

प्रिय विधार्थियों, पूर्व की इकाईयों में आपने रोग के अर्थ, कारण एवं वर्गीकरण के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। रोगों के अध्ययन में सबसे पहले शारीरिक रोगों का वर्णन आता है। यद्यपि मानव शरीर को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की प्राप्ति का मूल साधन माना गया है किन्तु कुछ शास्त्रकार इस शरीर को व्याधियों का घर मानते हुए कहते हैं–

^शरीर व्याधिमन्दिरम्*A

अर्थात यह मानव शरीर रोगों का भण्डारगृह है। यहाँ पर शास्त्रकार का संकेत शारीरिक रोगों की ओर ही है।

इस मानव शरीर को एक ऐसे वाहन की संज्ञा दी जाती है जिसके द्वारा आत्मारुपी सवार अपनी जीवन यात्रा पूरी करता है। यदि यह शरीर रुपी वाहन स्वस्थ अर्थात विकार रहित है तब इसके माध्यम से जीवात्मा अपनी जीवन यात्रा आसानी से पूर्ण कर लेता है किन्तु शरीर के रोगग्रस्त होने पर उसकी यह जीवन यात्रा कठिन हो जाती है। शरीर, मन एवं आत्मा का आपस में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध होता है। एक व्यक्ति जब तक शारीरिक रोगों से मुक्त रहता है तब तक उसके मन में कार्यों के प्रति उत्साह, उमंग, हर्ष, सकारात्मक भाव एवं आत्मा मे ऊर्जा की प्रबलता रहती है जबकि शरीर के रोगी होने पर वह व्यक्ति मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर भी कमजोर पड जाता है। इस स्वस्थ शरीर के महत्व को देखते हुए इससे प्राप्त सुख को जीवन के सबसे प्रथम एवं उत्तम सुख की संज्ञा दी गयी है। इस तथ्य को लोकोक्ति के रुप में प्रकट करते हुए कहा गया–

प्रथम सुख निरोगी काया।

अर्थात मानव शरीर का सबसे प्रथम सुख स्वस्थ शरीर होता है।

इस प्रकार स्वस्थ शरीर के महत्व को समझने के उपरान्त अब आपके मन में यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वभाविक ही है कि इस शरीर के रोगी होने का क्या अर्थ होता है अर्थात शारीरिक रोगों की अवधारणा क्या है? यह शरीर रोगी क्यों होता है अर्थात शारीरिक रोगों के क्या कारण होते हैं, तथा इन शारीरिक रोगों को कितने वर्गों में बांटा जा सकता है? प्रस्तुत इकाई में आप अन सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करेगें।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- शारीरिक रोग के अर्थ को समझा सकेंगे।
- शारीरिक रोगों की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेगें।
- शारीरिक रोगो को परिभाषित करने में सक्षम हो सकेंगे।
- शारीरिक रोग के कारणों का विस्तारपूर्वक वर्णन कर सकेंगे।
- शारीरिक रोगों को वर्गीकृत करने में सक्षम हो सकेगें।
- प्रस्तुत इकाई के अन्त में प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

6.3 शारीरिक रोग की अवधारणा

शारीरिक रोग का सामान्य अर्थ शरीर की रोगावस्था से लिया जाता है। इस तथ्य को यदि हम सरल शब्दों में कहें तो जब मनुष्य का शरीर अपने सामान्य कार्यों को सामान्य रुप से अथवा भली प्रकार से करने में असक्ष्म होता है तब शरीर की इस अवस्था को शारीरिक रोग का संज्ञा दी जाती है। प्रिय पाठकों जैसा कि हम जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य प्रातःकाल सोकर उठते ही अपने शरीर से कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। यदि कोई मनुष्य अपने शरीर से दैनिक कार्यों से लेकर विभिन्न निमैतिक कार्यों को सहजता एवं सरलता पूर्वक करता है तब वह व्यक्ति शारीरिक रुप से स्वस्थ कहलाता है जबकि इसके विपरित वह अवस्था जिसमें शरीर इन कार्यों को भलि भंति सम्पादित नही कर पाता है, शारीरिक रोग की अवस्था कहलाती है।

इस प्रकार शारीरिक रोग का अर्थ शरीर की उस विषम अवस्था से है जिसमें शरीर विभिन्न कार्यों को करने में असक्ष्म अथवा असमर्थ होता है। शारीरिक रोग की अवधारणा को अलग अलग चिकित्सा पद्धतियों में अलग अलग प्रकार से वर्णित किया गया है, जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

(क) आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार शारीरिक रोग की अवधरणा–

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार शरीर में आवश्यक पोषक तत्वों का अभाव शरीर की चयापचय दर को असन्तुलित कर देता है जिसके कारण शरीर की विभिन्न आन्तरिक एवं बाÞय क्रियाओं में बाधाएं उत्पन्न होने लगती है, शरीर की यह अवस्था ही शारीरिक रोग कहलाती है।

शरीर में बाहय रोगाणु, जीवाणु अथवा विषाणु के आक्रमण के परिणामस्वरुप भी शरीर की चयापचय दर असन्तुलित हो जाती है यह असन्तुलित चयापचय दर की अवस्था शारीरिक रोग कहलाती है।

बाहय वातावरणीय कारक जैसे अत्यधिक गर्मी, सर्दी, बरसात, भूख, प्यास, चोट एवं दुर्घटना आदि प्रतिकूल कारकों के कारण उत्पन्न शरीर की विषम अवस्था शारीरिक रोग कहलाती है।

इस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के संदर्भ में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में शरीर की चयापचय दर को स्वस्थ शरीर का मूल आधार स्तम्भ माना गया है। यहां पर सन्तुलित चयापचय दर का अर्थ शारीरिक स्वास्थ्य के रुप में तथा असन्तुलित चयापचय दर को शारीरिक रोग के रुप में वर्णित किया गया है। यहां पर स्पष्ट किया गया है कि जब तक शरीर की चयापचय दर संन्तुलित रहती है तब तक शरीर ऊर्जा से परिपूर्ण रहता है किन्तु जब किसी कारणवश शरीर की चयापचय दर असन्तुलित हो जाती है तब विभिन्न शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं।

(ख) आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार शारीरिक रोग की अवधारणा –

भारतीय संस्कृति में आयुर्वेद शास्त्र का अपना एक विशिष्ट स्थान है। आयुर्वेद शास्त्र का अर्थ आयु अर्थात जीवन के ज्ञान से होता है। इस शास्त्र में स्वास्थ्य एक रोग विषय पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। इस शास्त्र में शरीर में उपस्थित वात, पित्त एवं कफ नामक त्रिदोषों को शारीरिक स्वास्थ्य एवं शारीरिक रोगों के मूल आधार के रुप में वर्णित किया गया है।

आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार वात दोष शरीर में होने वाली विभिन्न गतियों अथवा चेष्टाओं का आधार है। इस दोष की सम अवस्था से शरीर के जोड़ (संन्धिया) भलि भांति गतिशील रहती हैं जबकि इस दोष की विषम अवस्था से जोड़ों के दर्द, सन्धिवात एवं गठिया आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

पित्त दोष शरीर को उष्णता प्रदान करता है। पित्त दोष ही शरीर के ओज, तेज एवं आभा का मूल आधार होता है। इस दोष की विषमता के कारण विभिन्न रक्त विकार, पाचन तंत्र के रोग व त्वचा आदि से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होते हैं।

कफ दोष शरीर को बल प्रदान करता है अर्थात शारीरिक बल का मूल आधार कफ दोष होता है। कफ दोष की विषमता शारीरिक दुर्बलता को उत्पन्न करती है, इसके साथ साथ सर्दी, जुकाम, खॉसी तथा बुखार आदि रोगों का सम्बन्ध कफ दोष की विकृति ही है।

प्रिय पाठकों, शरीर में उपरोक्त त्रिदोषों की साम्यावस्था रहने पर शरीर की समस्त बाहय एवं आन्तरिक क्रियाएं सुव्यवस्थित रुप में चलती रहती है जबकि इन त्रिदोषों में विषमता होने पर शरीर की ये क्रियाएं अव्यवस्थित एवं कष्टकारी हो जाती है परिणाम स्वरुप शरीर में विषम अवस्था उत्पन्न हो जाती है, शरीर की इस विषम अवस्था को ही शारीरिक रोग की संज्ञा दी जाती है।

(ग) प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार शारीरिक रोग की अवधारणा –

प्राकृतिक चिकित्सा में शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश नामक पंचमहाभूतों अथवा पंचतत्वों के समयोग को शारीरिक स्वास्थ्य के मूल आधार के रुप में वर्णित किया गया है। इन पंच महाभूतों की विषम अवस्था विभिन्न शारीरिक रोगों को उत्पन्न करती है।

पृथ्वी तत्व मानव शरीर में उपस्थित सबसे स्थूल तत्व है। इस तत्व के शरीर में सम अवस्था में बने रहने पर रस, रक्त, अस्थि व मज्जा आदि धातुएं सम बनी रहती हैं जबकि इस तत्व में विषमता होने पर पाचन सम्बन्धी रोग, मोटापा तथा गठिया आदि रोग उत्पन्न होते हैं। जल तत्व की विषमता के कारण शरीर का शोधन भलि भांति नही हो पाता तथा विभिन्न प्रकार के त्वचा रोग, शरीर में गांठ, मूत्र सम्बन्धी विकार तथा पथरी आदि रोग उत्पन्न होते हैं। अग्नि तत्व की विषमता भूख नही लगना, भोजन का ठीक प्रकार नही पचना, अति अम्लता व रक्त विकार आदि रोग उत्पन्न होते हैं। वायु तत्व का सम्बन्ध

श्वास– प्रश्वास के साथ है। इस तत्व के विषम योग से विभिन्न श्वसन रोग जैसे दमा, खॉसी, नजला, एलर्जी आदि उत्पन्न होते हैं। आकाश तत्व का सम्बन्ध शरीर में स्थित रिक्त स्थान से है। शरीर में इस तत्व का विषम अवस्था होने पर शरीर का रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है तथा शरीर विभिन्न संक्रामक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार मानव शरीर में इन पंचतत्वों की विषम अवस्था ही शारीरिक रोगों का मूल आधार है।

(घ) योग चिकित्सा के अनुसार शारीरिक रोग की अवधारणा –

योग चिकित्सा में प्राण तत्व को शारीरिक स्वास्थ्य का मूल आधार माना गया है। योग चिकित्सा के अनुसार प्राण वह ऊर्जा है जिसके कारण मनुष्य की समस्त शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएं संचालित होती है। जब तक शरीर में यह प्राण तत्व विद्यमान है तब तक जीवन है तथा इस प्राण तत्व के नही रहने पर शरीर निष्प्राण अर्थात मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। शरीर में इस प्राण तत्व की न्यूनता होने पर आलस्य तथा अति निन्द्रा आदि लक्षण प्रकट होते हैं, प्राण तत्व के ओर अधिक न्यून होने पर विभिन्न शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं जबकि शरीर में प्राण तत्व की प्रबलता अथवा अधिकता होने पर शरीर में लघुता अर्थात हल्कापन आता है।

योग चिकित्सा में प्राण के पॉच भेदों – प्राण वायु, अपान वायु, समान वायु, उदान वायु एवं व्यान वायु का वर्णन किया गया है। प्राण वायु का मुख्य स्थान हृदय होता है। यह श्वसन क्रिया को नियंत्रित करता है। इस प्राण वायु के न्यून अथवा विकृत होने पर श्वसन सम्बन्धी रोग उत्पन्न होते हैं। अपान वायु का मुख्य स्थान गुदा होता है। यह अपान वायु नाभि से नीचे के आन्तरिक अंगों जैसे गुदा, वृक्क, मूत्रेन्द्रिय आदि को नियंत्रित करता है। इस अप्राण वायु के विकृत होने पर इन अंगों से सम्बन्धी रोग उत्पन्न होते हैं। समान वायु का मुख्य स्थान नाभि प्रदेश है। यह समान वायु हृदय से नाभि पर्यन्त गति करता हुआ विभिन्न पाचन अंगों जैसे आमाशय, यकृत, क्लोमग्रंथि, छोटी आंत व बडी आंत आदि की क्रिया को नियंत्रित करता है। इस वायु में विकृति उत्पन्न होने पर इन अंगों से सम्बन्धी रोग उत्पन्न होते हैं। उदान वायु का मुख्य स्थान कंठ है। इस वायु से नाक, कान, आंख आदि इन्द्रियाँ संचालित होती है। व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त यह जीवनी शक्ति शरीर का आधार है। व्यान वायु के द्वारा सम्पूर्ण शरीर की गतिविधियाँ सम्पन्न संचालित होती हैं। इस व्यान वायु में विकृति उत्पन्न होने पर शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं में बाधाएं उत्पन्न होती है।

प्रिय पाठकों , इस प्रकार उपरोक्त तथ्यों के अनुसार शारीरिक रोग की यह अवधारणा स्पष्ट होती है कि शरीर द्वारा विभिन्न सामान्य कार्यों एवं क्रियाओं को सरलता एवं सहजतापूर्वक ढंग से नही कर पाने की अवस्था शारीरिक रोग कहलाती है किन्तु यहॉ पर अब आपके मन में यह प्रश्न उत्पन्न होना भी स्वाभाविक ही है कि ऐसे क्या कारण होते हैं जिनकी वजह से शरीर के इन कार्यों एवं क्रियाओं में बाधाएं अर्थात शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं, अतः अब आप शारीरिक रोग के कारणों का अध्ययन करेगें–

6.4 शारीरिक रोग के कारण

शारीरिक रोग के उत्पत्ति के बहुत सारे कारण होते हैं। इन कारणों में मुख्य रुप से असंयमित जीवन शैली एवं विकृत आहार विहार का वर्णन आता है। इनके साथ साथ प्रदूषण एवं अनुवांशिकता भी शारीरिक रोगों की उत्पत्ति के महत्वपूर्ण कारण हैं। जिस प्रकार आपने विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में रोगों की अवधारणा की व्याख्या अलग अलग रुपों में की गयी है, उसी प्रकार अलग अलग चिकित्सा पद्धतियों में इन कारणों को भी अलग अलग प्रकार से वर्णित किया गया है जो इस प्रकार है–

(क) आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार शारीरिक रोग के कारण–

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार शारीरिक रोग की उत्पत्ति के महत्वपूर्ण कारण निम्न लिखित हैं

(1) पौष्टिक एवं सन्तुलित आहार के अभाव के कारण शरीर में पोषक तत्वों एवं आवश्यक खनिज लवणों की कमी होना शारीरिक रोगों का सबसे प्रथम एवं महत्वपूर्ण कारण होता है।

(2) प्रदूषित वातावरण में वास करने एवं अपने आस पास के रहन सहन व खान पान में स्वच्छता का अभाव रखने से शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

(3) विकृत सोच विचार एवं अनियमित शयन–जागरण के परिणाम स्वरुप शरीर में हार्मोन्स असन्तुलित होने के कारण शरीर में रोग पैदा होते है।

(4) बाहय वातावरणीय कारक जैसे अत्यधिक गर्मी, सर्दी, बरसात, भूख, प्यास, चोट एवं दुर्घटना आदि प्रतिकूल कारकों के कारण विभिन्न शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं।

(5) अनुवांशिकता शारीरिक रोगों का महत्वपूर्ण कारण होता है अर्थात शारीरिक रोग अनुवांशिक रुप में माता पिता से उनकी सन्तानों में पहुॅच जाते हैं।

(ख) आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार शारीरिक रोग के कारण–

आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार शारीरिक रोग की उत्पत्ति के कारण इस प्रकार हैं

1 स्वस्थवृत्त अर्थात स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करने से शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

2 शुद्ध और सात्विक आहार के स्थान पर राजसिक एवं तामसिक (अधिक मिर्च मसाले युक्त गरिष्ट भोजन) का सेवन करने के कारण शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

3 प्रदूषित वातावरण में रहने के कारण शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं।

4 चोट, दुर्घटनाओं अदि के कारण शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है।

5 बुरे प्रारब्ध अर्थात पूर्व जन्म में किए बुरे कर्मों के फलभोग के रुप में शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

(ग) प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार शारीरिक रोग के कारण– प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार शारीरिक रोग की उत्पत्ति के महत्वपूर्ण कारण निम्न लिखित हैं–

(1) अप्राकृतिक जीवनशैली को अपनाने के कारण शरीर में विजातीय पदार्थों की अधिक मात्रा एकत्र होने के परिणाम स्वरुप शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

(2) पंचमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) के सम्यक रुप में उपभोग नही करने के कारण शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है।

(3) प्रकृति के मूल नियमों अथवा सिद्धान्तों जैसे अनुशासन, सृजनात्मकता आदि का उल्लंघन करने के कारण शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

(4) भोजन में प्राकृतिक पदार्थों के स्थान पर कृत्रिम एवं रासायनिक पदार्थों से युक्त भोजन का सेवन करने के परिणाम स्वरुप शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं।

(5) अधिक प्रदूषित, घुटनयुक्त एवं अप्राकृतिक वातावरण में वास करने के कारण विभिन्न शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

(ग) योग चिकित्सा के अनुसार शारीरिक रोग के कारण–

योग चिकित्सा के अनुसार शारीरिक रोग की उत्पत्ति के निम्न लिखित कारण होते हैं–

(1) अनुशासित योगमय जीवनशैली के स्थान पर भोगमय जीवनशैली का अनुकरण करने के कारण शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

(2) षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम व ध्यान आदि यौगिक क्रियाओं का नियमित अभ्यास नही करने के कारण शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

(3) आहार सम्बन्धी नियमों का पालन नही करते हुए तामसिक आहार का अधिक सेवन काने के कारण शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है।

(4) गलत मुद्राओं से कार्य करने, अधिक कार्य करते हुए विश्राम नही करने के कारण शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं।

(5) निश्चित दिनचर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या का पालन नही करने के कारण शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

प्रिय विधार्थियों, ऊपर वर्णित कारणों से मानव शरीर में शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है किन्तु यहॉ ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि केवल कुछ परिस्थितियों में ही कोई एक कारण प्रबल रुप में शरीर के प्रभावित करता हुआ शारीरिक रोग को पैदा करता है अपितु अधिकाशं परिस्थितियों में

एक कारण के स्थान पर दो अथवा अधिक कारण साथ मिलकर शरीर में रोग पैदा करते हैं। अब यहॉ पर इन शारीरिक रोगों के कारणों को जानने के उपरान्त इनके प्रकारों अर्थात वर्गों के विषय में जानना भी आवश्यक हो जाता है अतः अब हम शरीरिक रोगों के वर्गों पर विचार करते हैं–

6.5 शारीरिक रोगों का वर्गीकरण

शारीरिक रोगों को अलग अलग चिकित्सा पद्धतियों में अलग अलग प्रकार के वर्गों में विभाजित किया गया है। अलग अलग चिकित्सा पद्धतियों के अनुसार इन शारीरिक रोगों के वर्गों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(क) आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार शारीरिक रोगों का वर्गीकरण–

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मानव शरीर के ग्यारह तंत्रों के आधार पर शारीरिक रोगों को निम्न लिखित ग्यारह वर्गों में विभाजित करता है–

पाचन तंत्र के रोग : पाचन तंत्र में विकृति के परिणाम स्वरुप उत्पन्न रोगों का वर्ग पाचन तंत्र के रोग कहलाते हैं। इसके अर्न्तगत आमाश्य, यकृत, छोटी ऑत व बडी ऑत आदि पाचन अगों से सम्बन्धित अपच, एसाडिटी, अल्सर, एपेन्डिक्स, मधुमेह एवं कब्ज आदि रोगों का वर्णन आता है।

श्वसन तंत्र के रोग : श्वसन तंत्र में विकृति के परिणाम स्वरुप उत्पन्न रोगों के वर्ग को श्वसन तंत्र के रोग कहा जाता हैं। इसके अर्न्तगत गले, कंठ, श्वासनली एवं फेफड़ों आदि अगों से सम्बन्धित टॉसिल्स, श्वास नली शोथ, खांसी, जुकाम एवं दमा आदि रोगों का वर्णन आता है।

उत्सर्जन तंत्र के रोग : उत्सर्जन तंत्र में विकृति के परिणाम स्वरुप उत्पन्न रोगों का वर्ग उत्सर्जन तंत्र के रोग कहलाते हैं। इसके अर्न्तगत वृक्क एवं मूत्र नलिका वृक्क शोथ, वृक्क प्रदाह, वृक्क में पथरी एवं बहुमूत्र आदि रोगों का वर्णन आता है।

अस्थि तंत्र के रोग : अस्थियों एवं उपास्थियों की संरचना एवं कार्यों में उत्पन्न विकृति के परिणाम स्वरुप उत्पन्न रोगों का वर्ग अस्थि तंत्र के रोग कहलाते हैं। इसके अर्न्तगत हड्यिों में टेडापन तथा जोडों मे दर्द आदि रोगों का वर्णन आता है।

पेशिय तंत्र के रोग : शरीर के विभिन्न अंगों में स्थित मॉसपेशियों की विकृति से उत्पन्न रोग पेशिय तंत्र के रोग कहलाते है इस वर्ग में हाथों– पैरों में दर्द, जोड़ों में दर्द, जोड़ों में जकड़न तथा पेशियों में सूजन आदि रोगों का वर्णन आता है।

अध्यावरणीय तंत्र के रोग : शरीर के आन्तरिक एवं बाहय अंगों को ढकने वाली त्वचा की विकृति से सम्बन्धित रोगों का वर्ग अध्यावरणीय तंत्र के रोग कहलाता है। इस वर्ग में त्वचा में खुजली, जलन, सूजन, दाने व फोडे फुसीं आदि रोगों का वर्णन आता है।

रक्त परिसंचसण तंत्र के रोग : शरीर में स्थित रक्त एवं हृदय की विकृति से उत्पन्न रोगों के समूह को रक्त परिसंचरण तंत्र के रोगों का वर्ग कहा जाता है। इसके अर्न्तगत रक्त अल्पता, उच्च व निम्न रक्तचाप तथा हृदय से सम्बन्धित रोगों का वर्णन आता है।

अन्तःस्रावी तंत्र के रोग : शरीर में निश्चित स्थानों पर स्थित अन्तःस्रावी ग्रन्थियों जैसे पीनियल, पीटयूटरी, थायराइड एवं पैराथायराइड आदि से स्रावित हार्मोन्स की विकृति को अन्तःस्रावी तन्त्र के रोग कहा जाता है। इस वर्ग के अर्न्तगत हार्मोन्स असन्तुलन से उत्पन्न मधुमेह, थायराइड, बौनापन व बांझपन आदि रोगों का वर्णन आता है।

प्रतिरक्षा तंत्र के रोग : शरीर की बाÞय जीवाणुओं, विषाणुओं एवं रोगाणुओं से सुरक्षा का सम्बन्ध प्रतिरक्षा तंत्र के साथ होता है। इस तंत्र में विकार उत्पन्न होने पर विभिन्न संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं।

तंत्रिका तंत्र के रोग : तंत्रिका तंत्र में विकृति के परिणाम स्वरुप उत्पन्न रोगों के वर्ग को तंत्रिका तंत्र के रोग कहा जाता हैं। इस वर्ग के अर्न्तगत मस्तिष्क एवं सुषुम्ना नामक अगों सम्बन्धित दुर्बल स्मरण शक्ति, हाथों व पैरौं में कम्पन्न, कमजोर शारीरिक सन्तुलन एवं तंत्रिकाओं से सम्बन्धित रोगों का वर्णन आता है।

प्रजनन तंत्र के रोग : प्रजनन तंत्र में विकृति के परिणाम स्वरुप उत्पन्न रोगों के वर्ग को प्रजनन तंत्र के रोग कहा जाता हैं। इस वर्ग के अर्न्तगत स्त्री रोग, पुरुष रोग व बांझपन आदि रोगों का वर्णन आता है।

(ख) आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार शारीरिक रोगों का वर्गीकरण–

आयुर्वेद शास्त्र में वात, पित्त एवं कफ नामक त्रिदोषों के आधार पर रोगों के निम्न लिखित तीन वर्ग के रोगों का उल्लेख किया गया है–

(A) **वात दोष के रोग :** आयुर्वेद शास्त्र में वात दोष को पित्त एवं कफ दोष की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस दोष की विषमता से उत्पन्न रोगों के वर्ग को वात दोष के रोग कहा गया है इसके अर्न्तगत जोड़ों में दर्द, सूजन, गठिया, आर्थराइटिस, कमर दर्द, सवाईकल, पेट में गैस, पेट दर्द, सिर दर्द एवं माइग्रेन आदि रोगों का वर्णन आता है।

(B) **पित्त दोष के रोग :** पित्त दोष शरीर को उष्मा एवं ऊर्जा प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। शरीर में इस दोष की विषमता शरीर को तेजहीन एवं ऊर्जाहीन बना देती है। है। इस दोष की विषमता से उत्पन्न रोगों के वर्ग को पित्त दोष के रोग कहा गया है इसके अर्न्तगत पीलिया, रक्त अल्पता, पेट में जलन, अल्सर एवं त्वचा से सम्बन्धित रोगों का वर्णन आता है।

(C) **कफ दोष के रोग :** आयुर्वेद शास्त्र में कफ दोष शरीर को शरीर के बल का मूल आधार माना गया है। शरीर में इस दोष की विषमता शरीर को बलहीन बना देती है। इस दोष की विषमता से उत्पन्न रोगों के वर्ग को कफ दोष के रोग कहा गया है इसके अर्न्तगत सर्दी, जुकाम, बुखार, खॉसी व न्यूमोनिया आदि रोगों का वर्णन आता है।

(ग) प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार शारीरिक रोगों का वर्गीकरण–

प्राकृतिक चिकित्सा में शारीरिक रोगों के दो वर्गों (प्रकारों) का वर्णन किया गया है–

त्रीव रोग (Acute Disease) :

प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार रोग वह अवस्था है जिसमें शरीर अपने अन्दर स्थित विषाक्त तत्वों को अस्वभाविक रुप से बाहर निकालता है, जब ये विषाक्त तत्व तेजी से एवं कम समयान्तराल में शरीर से बाहर निकलते हैं तब शरीर की इस अवस्था को त्रीव रोग की संज्ञा दी जाती है। चूंकि त्रीव रोगों द्वारा कम समय में शरीर की सफाई होती है तथा शरीर की जीवनी शक्ति एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है अतः इन त्रीव रोगों को शरीर के लाभकारी अर्थात मित्र रोगों की श्रेणी में रखा जाता है। त्रीव जुकाम, बुखार, खॉसी, वमन एवं पेचिश आदि इस वर्ग के रोग हैं।

जीर्ण रोग (Chronic Disease) :

शरीर की वह अवस्था जिसमें शरीर में स्थित विषाक्त तत्व धीरे धीरे एवं लम्बे समय तक शरीर से निकलते रहते हैं तब शरीर की यह अवस्था को जीर्ण रोग कहलाती है। जीर्ण रोगों का समय बहुत लम्बा होता है तथा समय लम्बा होने से इन रोगों के ग्रस्त होने पर शरीर की जीवनी शक्ति एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता क्षीण पड जाती है। लम्बे समय का जुकाम, बुखार, खॉसी, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग एवं कैसंर आदि इस वर्ग के रोग हैं।

(घ) योग चिकित्सा के अनुसार शारीरिक रोगों का वर्गीकरण–

योग चिकित्सा में मूल रुप से आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित रोग की अवधारणा से साम्य स्थापित किया गया है। योग चिकित्सा आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित वात, पित्त व कफ दोषों की विषमता को ही शारीरिक रोगों की उत्पत्ति का मूल आधार मानती हुई शारीरिक रोगों के इन्ही वर्गों की चिकित्सा पर बल देती है। इसके साथ साथ योग चिकित्सा में पंच प्राणों के आधार पर रोगों को वर्गीकृत किया गया है। वर्तमान समय में योग चिकित्सा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित रोगों के प्रकारों पर भी अपनी सममति प्रकट करती है।

अभ्यास हेतु प्रश्न –

1– **सत्य /असत्य**

(क) शरीर, मन एवं आत्मा का आपस में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध होता है।

(ख) आयुर्वेद शास्त्र में पित्त दोष को वात एवं कफ दोष की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

(ग) भोगमय जीवनशैली के स्थान पर योगमय जीवनशैली का अनुकरण करने के कारण शारीरिक रोग पैदा होते हैं।

(घ) शारीरिक रोग का अर्थ शरीर की विषम अवस्था से है

(ड) उच्च व निम्न रक्तचाप तथा हृदय रोग उत्र्सजन तंत्र के रोग हैं।

2– रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(क) कफ दोष की विषमता शरीर को ..... बना देती है।

(ख) योग चिकित्सा मूल रुप से आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित रोग की अवधारणा से ..... रखती है।

(ग) प्राकृतिक चिकित्सा में शारीरिक रोगों के ..... वर्गों का वर्णन किया गया है। **(घ)** योग चिकित्सा में प्राण के ..... भेदों का वर्णन किया गया है।

(ड) शारीरिक रोग ..... रुप में माता पिता से उनकी सन्तानों में पहुॅच जाते हैं।

3–बहुविकल्पीय प्रश्न –

(क) आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार स्वास्थ्य का मूल आधार स्तम्भ है–

(a) त्रिदोष (b) पंचमहाभूत

(c) चयापचय दर (d) पौष्टिक भोजन

(ख) आयुर्वेद शास्त्र में शारीरिक रोगों को कितने वर्गों (प्रकारों) में बांटा गया है

(a) दो (b) तीन

(c) पॉच (d) ग्यारह

(ग) प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार शारीरिक रोगों का कारण है –

(a) अप्राकृतिक जीवन शैली (b) प्रदूषित वातावरण

(c) कृत्रिम व रासायनिक आहार (d) सभी।

(घ) निम्न में से कौन सा रोग वात दोष से सम्बन्धित है –

(a) पीलिया (b) गठिया

(c) खॉसी (d) जुकाम

(ड) प्राण वायु की विकृति से कौन से रोग उत्पन्न होते हैं –

(a) श्वसन सम्बन्धी (b) पाचन सम्बन्धी

(c) इन्द्रियों सम्बन्धी (d) सभी।

6.6 सारांश–

प्रिय पाठकों प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त यह स्पष्ट होता है कि शारीरिक रोग का अर्थ शरीर की विषम अवस्था से है, इस विषम अवस्था को अलग अलग चिकित्सा पद्धतियों में अलग अलग प्रकार से व्यक्त किया गया है। यहॉ पर सबसे पहले वर्तमान समय में यर्वाधिक प्रचलित आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का उल्लेख किया गया है जिसमें शरीर की चयापचय दर को स्वास्थ्य का मूल आधार स्तम्भ माना गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार सन्तुलित चयापचय दर शारीरिक स्वास्थ्य एवं असन्तुलित चयापचय दर शारीरिक रोग का जनक है।

आयुर्वेद शास्त्र में वात, पित्त एवं कफ दोषों की विषमता से उत्पन्न अवस्था को शारीरिक रोग के रुप में वर्णित किया गया है। इस संदर्भ में प्राकृतिक चिकित्सा में पंचमहाभूतों की सम अवस्था के शारीरिक स्वास्थ्य एवं इन महाभूतों की विषम अवस्था को शारीरिक रोग के रुप में व्यक्त किया गया है। योग चिकित्सा में प्राण तत्व के आधार पर शारीरिक स्वास्थ्य एवं रोग की व्याख्या की गयी है।

इन रोगों के कारणों के संदर्भ में मूल रुप से विकृत आहार विहार , असंयमित जीवन शैली एवं बाÞय भौतिक कारकों की भूमिकाओं पर प्रायः सभी चिकित्सा पद्धतियों में समान रुप से प्रकाश डाला गया है प्ररन्तु इन बिन्दुओं को अलग अलग प्रकार से संशोधित करते हुए अभिव्यक्त किया गया है।

शारीरिक रोगों के वर्गीकरण के संदर्भ में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान मानव शरीर के ग्यारह मंत्रों के आधार पर शारीरिक रोगों को ग्यारह वर्गों में वर्गीकृत करता है। आयुर्वेद शास्त्र त्रिदोषों के आधार पर शारीरिक रोगों को तीन वर्गों में विभाजित करता है। प्राकृतिक चिकित्सा में पंच महाभूतों के आधार पर एवं योगचिकित्सा में पंच प्राण के आधार पर शारीरिक रोगों को पॉच वर्गों में बांटा गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में शारीरिक रोग की अवधारणा, कारण एवं वर्गीकरण को विभिन्न दृष्टिकोणों से स्पष्ट किया गया है।

6.7 पारिभाषिक शब्दावली–

पुरुषार्थ	विषेश कार्य
निमेतिक कार्य	कारण हेतु किया जाने वाला कार्य
विकृत	कम अथवा अधिक
साम्य	समानता
सममति	सकारात्मक भाव

6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

क.	सत्य	क.	बलहीन	क.	c
ख.	असत्य	ख.	साम्य	ख.	b
ग.	असत्य	ग.	दो	ग.	d
घ.	सत्य	घ.	पॉच	घ.	b
ड.	असत्य	ड.	अनुवांशिक	ड.	a

6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.कल्याण आरोग्य अंक – गीता प्रेस गोरखपुर।
2. मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान– प्रो0 अनन्त प्रकाश गुप्ता, सुमित प्रकाशन, आगरा।
3. शरीर और शरीर क्रिया विज्ञान – मंजु तथा महेश चन्द्र गुप्ता, सांई प्रिन्ट, नई दिल्ली।
4. स्वस्थवृत्त विज्ञान– प्रो0 रामहर्ष सिंह , चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
5. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान, डा0 राकेश जिन्दल, आरोग्य सेवा प्रकाशन, मुरादनगर (उ0 प्र0) ।
6. प्राकृतिक चिकित्सा – राम गोपाल शर्मा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

6.10 निबन्धात्मक प्रश्न–

1. शारीरिक रोग की अवधारणा को सविस्तार स्पष्ट किजिए।
2. शारीरिक रोग के कारणों को समझाते हुए इनको वर्गीकृत किजिए।
3. शारीरिक रोगों पर निबन्ध लिखिए।

इकाई–7 असामान्य मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 असामान्य मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
7.3.1 पूर्व वैज्ञानिक काल
7.3.2 असामान्य मनोविज्ञान का आधुनिक उद्भव
7.3.3 आज का असामान्य मनोविज्ञान
7.4 सारांश
7.5 शब्दावली
7.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.9 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, प्रस्तुत इकाई में हमारे अध्ययन का विषय है–''असामान्य मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि।'' जैसा कि बताया जाता है कि असामान्य मनोविज्ञान जिसे मनोरोग विज्ञान के नाम से भी जाना जाता है, मनोविज्ञान की वह शाखा है, जिसमें व्यक्ति के असामान्य व्यवहार और उसकी मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं। अतः असामान्य मनोविज्ञान की विषयवस्तु मूल रूप से कुंसमायोजित व्यवहार, विघटित व्यक्तित्व आदि के अध्ययन एवं उपचार से संबंधित हैं।

7.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों, प्रस्तुत ईकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप

(1) असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास का वर्णन कर सकेंगे।

(2) भिन्न–भिन्न कालों में मनोरोगों के कारण एवं उपचार से संबंधित विभिन्न विचारधाराओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

7.3 असामान्य मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पाठकों, असामान्य व्यवहार के बारे में अध्ययन करना अपने आप में कोई नया कार्य नहीं है, क्योंकि यह कार्य बहुत प्राचीन समय से किया जाता रहा है। असामान्य मनोविज्ञान की एक लम्बी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। मनोरोगों के अध्ययन का प्रारंभ मानवजाति के अभिलिखित इतिहास से ही होता है। अत्यधिक प्राचीन समय में मानसिक विकृतियों का कोई ऐतिहासिक उल्लेख मनोवैज्ञानिकों के पास उपलब्ध नहीं है। अतिप्राचीनकाल में असामान्य व्यवहार का अध्ययन वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित न होने के कारण अधूरा था। मनोवैज्ञानिक ने असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास को निम्न तीन भागों में वर्गीकृत किया है–

(1) पूर्व वैज्ञानिक काल : प्राचीन समय से लेकर 1800 तक

(Prescintific period : From primitire time to 1800 A.D.)

(2) असामान्य मनोविज्ञान का आधुनिक उद्भव : 1801 से लेकर सन् 1950 तक।

(Modern aligin of abnormal psychology : From 1801 to 1950)

(3) आज का असामान्य मनोविज्ञान : सन् 1951 से आज तक

(Abnormal psychology Today : From 1951 to Today)

पाठकों, असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास में प्रत्येक काल में असामान्य व्यवहार के प्रति अलग–अलग दृष्टिकोण को अपनाया गया है।

तो आइये, अब हम अध्ययन करते हैं कि भिन्न–भिन्न समय में असामान्य व्यवहार के प्रति क्या–क्या दृष्टिकोण अपनाये गये, किस प्रकार उनका अध्ययन किया गया।

7.3.1 पूर्व वैज्ञानिक काल (पुरातन समय से लेकर 1800 तक) (Prescientific period)

प्रिय विद्यार्थियों, पूर्ववैज्ञानिक काल का प्रारंभ पुरातन लोगों द्वारा असामान्य व्यवहार के अध्ययन से माना जाता है। इसमें 18वीं सदी तक किये गये सभी अध्ययन सम्मिलित हैं। इस काल में असामान्य व्यवहार के कारण एवं निवारण को लेकर अत्यधिक उतार–चढ़ाव रहा। असामान्य व्यवहार को लेकर अलग–अलग मतों का प्रतिपादन किया गया। अतः अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पूर्ववैज्ञानिक काल को निम्न चार खण्डों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. पाषाण युग का जीववादी चिन्तन
   (Animistic thinking of stone age)
2. प्रारंभिक दार्शथ्नक एवं मेडिकल विचारधारायें
   (Early philosophical and medical concepts)
3. मध्य युग में पैशाचिकी
   (Demenology in middle age)
4. मानवीय दृष्टिकोण का उद्भव

(Oligion of Humanitalion Viewpoint)

जिज्ञासु विद्यार्थियों, सर्वप्रथम हम अध्ययन करते हैं, पाषाण युग के जीववादी चिन्तन के बारे में।

(1) पाषाण युग का जीववादी चिन्तन–

प्रिय विद्यार्थियों, वास्तव में असामान्य व्यवहार तथा उसके उपचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आरम्भ पाषाण युग की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अवधारणा ''जीववाद'' से प्रेरित विचारों से मानते हैं। प्राचीन समय में ग्रीक, चीन तथा मिस्र आदि देशों में इसी विचारधारा का प्रचलन था। जीववादी चिन्तन के अनुसार जब किसी मनुष्य के प्रति भगवान की कृपा दृष्टि समाप्त हो जाती है तो दण्ड के रूप में ईश्वर की ओर से उस प्राणी में मनोरोग उत्पन्न हो जाता है, और उस व्यक्ति पर किसी बुरी आत्मा का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। प्राचीन समय में मनोरोगों के प्रति लोगों का दृष्टिकोण इस जीववादी चिन्तन से सर्वाधिक प्रभावित हुआ था।

जीववाद की मान्यता के अनुसार व्यक्ति में असामान्य व्यवहार विकसित होने का मूल कारण उसके भीतर किसी भूत–प्रेत या बुरी आत्मा का प्रविष्ट हो जाना है। इसे **पिशाचआधिपत्य** (Demon Possession) का नाम दिया गया।

इसके साथ ही लोगों की यह मान्यता भी थी कि जब किसी व्यक्ति के शरीर में अच्छी आत्मा प्रविष्ठ हो जाती है तो उसका व्यवहार आध्यात्मिक हो जाता है।

किन्तु ऐसा माना जाता था कि अच्छी आत्मा का आधिपत्य तो कम ही होता था, अधिकतर आधिपत्य बुरी आत्माओं का ही होता था।

प्राचीन जीववादी चिन्तन में न केवल व्यक्ति के असामान्य व्यवहार की अवस्था को प्रभावित किया, बल्कि इससे मनोरोगों के उपचार का ढंग भी अत्यधिक प्रभावित हुआ। उस समय मनोरोगों के उपचार के लिये निम्न दो विधियाँ प्रचलित थी–

(A) अपद्रूत निसारन (Exarcim)

(B) ट्रोफाइनेशन (Trephination)

अपद्रूत निसारन में विभिन्न प्रविधियों के माध्यम से शरीर के भीतर प्रविष्ट बुरी आत्मा को बाहर निकाला जाता था। जैसे– प्रार्थना, जादू–टोना, शोरगुल, झाड़–फुक और अनेक कष्टदायी एवं अमानवीय विधियाँ, जैसे–लम्बे समय तक भूखा रखना, कोड़े लगाना इत्यादि। इन विधियों को अपनाने के पीछे यह मान्यता थी कि इस प्रकार के तरीकों का उपयोग करने से मनोरोगी का शरीर इतना कष्टकारी स्थिति में पहुँच जायेगा कि बुरी आत्मा स्वतः ही उसके शरीर को छोड़ देगी और उसका रोग दूर हो जायेगा। बाद में अपद्रूत निसारन विधि चीन, मीस्र, ग्रीस के देशों के पुजारियों में अत्यन्त लोकप्रिय हो गयी, जो उस समय मनोचिकित्सक का कार्य भी करते थे।

(B) ट्रीफाइनेशन–

अपद्रूत–निसारन के अतिरिक्त बुरी आत्मा को बाहर निकालने के लिये **ट्रीफाइनेशन** विधि का प्रयोग भी किया जाता था, जिसमें मनोरोग ग्रस्त व्यक्ति की खोपड़ी में नुकीले पत्थरों से मार–मार कर एक छेद कर दिया जाता था। इस विधि को अपनाने के पीछे यह मान्यता थी कि बुरी आत्मा इस छेद द्वारा बाहर निकल जायेगी और व्यक्ति स्वस्थ हो जायेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पाषाण युग में मनोरोगों को लेकर जीववादी चिन्तन का बोलबाला था, जिसमें बुरी आत्मा का शरीर में प्रवेश कर जाना ही मनोरोगों का प्रमुख कारण माना जाता था।

प्रारंभिक दार्शनिक एवं मेडिकल विचारधारायें–

प्रिय विद्यार्थियों आज से करीब 2500 वर्ष पूर्व मनोरोगों के संबंध में एक विवेकपूर्ण वैज्ञानिक विचारधारा का जन्म हुआ। इसका श्रेय आधुनिक चिकित्साशास्त्र के जनक माने जाने वाले ग्रीक चिकित्सक **हिपोक्रेट्स** को जाता है। असामान्य व्यवहार के संबंध में हिपोक्रेट्स ने अपने क्रांतिकारी, वैज्ञानिक विचार प्रतिपादित करते हुये कहा कि शारीरिक एवं मानसिक रोग कुछ स्वाभाविक कारणों से उत्पन्न होते हैं न कि किसी बुरी आत्मा के शरीर में प्रवेश करने पर अथवा देवी–देवताओं के प्रकोप से। इस विचारधारा को **प्रकृतिवाद** का नाम दिया गया जो **जीववादी चिन्तन** के प्रतिकूल थी। मनोरोगों के

संबंध में इन प्रारंभिक दार्शनिक एवं मेडिकल विचारधाराओं का वर्णन निम्न चार बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है–

(अ) हिपोक्रेट्स का योगदान
(ब) प्लेटो एवं अरस्तू का योगदान
(स) उप्तर ग्रीक एवं रोमवासियों का योगदान
(द) इस्लामिक देशों में ग्रीक विचारों की मान्यता

(अ) हिपोक्रेट्स का योगदान

असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास में हिपोक्रेट्स का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनोरोगों के संबंध में इन्होंने एक अत्यन्त वैज्ञानिक एवं तार्किक विचारधारा को जन्म दिया, जो पाषाण युग के जीववादी चिन्तन की बिल्कुल विपरीत थी। हिपोक्रेट्स का विचार था कि शारीरिक रोगों के समान ही मानसिक रोग भी कुछ स्वाभाविक कारणों से उत्पन्न होते हैं और जिस प्रकार शारीरिक रोगों का इलाज किया जाता है, उसी प्रकार मानसिक रोगियों का इलाज भी मानवीय ढंग से होना चाहिये और ऐसे रोगियों की पर्याप्त देखभाल की जानी चाहिये। हिपोक्रेट्स ने मानसिक रोगों का मूल कारण **मस्तिष्कीय विकृति** को माना, क्योंकि सभी प्रकार के बौद्धिक कार्यों में मस्तिष्क की ही सर्वाधिक प्रमुख भूमिका होती है। इन्होंने मनोरोगों को निम्न तीन श्रेणियों में विभक्त किया–

(A) उन्माद (Mani)
(B) विषाद रोग (Melancholia)
(C) उन्मप्तता (Phrentis) या मस्तिष्कीय ज्वर (Brain Fever)

मनोरोगियों के निरीक्षण से प्राप्त नैदानिक अनुभवों के आधार पर उन्होंने प्रत्येक मनोरोग के नैदानिक लक्षण भी बताये। मनोरोगियों के व्यक्तित्व को समझने में हिपोक्रेट्स ने स्वान की भूमिका को भी स्वीकार किया। मनोरोगों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में इन्होंने मस्तिष्कीय विकृति के साथ–साथ वंशानुक्रम, पूर्ववृत्ति तथा पर्यावरणी कारकों के महत्व को भी स्वीकार किया। हिपोक्रेट्स की मान्यता भी कि मनोरोगियों को यदि अपने परिवार से अलग एक अच्छे, स्वस्थ वातावरण में रखा जाये तो वे शीघ्र स्वास्थ्यलाभ कर मनोरोगों से छुटकारा पा सकते हैं।

हिस्टीरिया रोग के सन्दर्भ में हिपोक्रेट्स ने बताया कि यह रोग केवल स्त्रियों में ही होता है और विशेष रूप से उन स्त्रियों में जिनमें बच्चा पैदा करने की तीव्र इच्छा होती है। अतः विवाह ही इस रोग का सबसे अच्छा इलाज है।

इसके साथ ही इन्होंने मनोरोगों के कारणों के संबंध में यह भी बताया कि जब हमारे शरीर के चार प्रमुख पिप्त–पीला पिप्त, काला पिप्त, रक्त एवं श्लेष्मा का अनुपात असंतुलित हो जाता है, तो इससे भी मनोरोग उत्पन्न हो जाते है।

पाठकों, यद्यपि वर्तमान समय में हिपोक्रेट्स के विचार पूरी तरह मान्य नहीं है। किन्तु फिर भी इनके विचार उस समय इतने क्रांतिकारी थे, जिनके कारण मनोरोगों की उत्पत्ति के संबंध में दैवीय प्रकोप एवं दुष्ट आत्मा संबंधी विचार की मान्यता जाती रही और उसके स्थान पर नये वैज्ञानिक विचारों का प्रादुर्भाव हुआ।

(ब) प्लेटो एवं अरस्तू का योगदान

हिपोक्रेट्स के अतिरिक्त अन्य ग्रीक दार्शनिकों जैसे–प्लेटों एवे उनके शिष्य अरस्तू द्वारा भी मनोरोगियों का अध्ययन किया गया। इन दार्शनिकों के द्वारा विशेष रूप से आपराधिक कार्य करने वाले मानसिक रोगियों के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित किया गया। ऐसे मनोरोगियों के संबंध में प्लेटों का विचार था कि चूँकि ऐसे मनोरोगी अपने आपराधिक कृत्यों के लिये प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार नहीं होते है। इसलिये इनके साथ सामान्य अपराधियों जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिये और न ही उनके समान दण्ड दिया जाना चाहिये वरन् इनके साथ मानवीय दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये। जैसे उनके पारिवारिकजनों अथवा मित्रों या रिश्तेदारों द्वारा उन पर निगरानी रखना इत्यादि।

प्लेटो का विचार था कि मनोरोगों को ठीक प्रकार से समझने के लिये मानव व्यवहार का ढंग से समझना अत्यन्त आवश्यक है। प्लेटों में सभी प्रकार के व्यवहारों को शारीरिक अनावश्यकताओं द्वारा

प्रेरित माना। प्लेटों ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **Republic** में मानसिक क्षमताओं से सम्बद्ध वैयक्तिक विभिन्नता की महत्ता पर बल दिया है तथा यह बताया है कि किसी भी व्यक्ति के विचार एवं व्यवहार पर सामाजिक–सांस्कृतिक कारकों का भी अत्यन्त प्रभाव पड़ता है। अपने इन सभी आधुनिक विचारों के बावजूद भी प्लेटों इस विचार से भी कुछ हद तक सहमत थे कि मनोरोग आंशिक रूप से दैवीय कारणों से भी होता है।

(द) इस्लामिक देशों में ग्रीक विचारों की मान्यता

मध्य युग के समय कतिपय इस्लामिक देश पहले के ग्रीक चिकित्सकों के विचारों से प्रभावित रहे 792 A.D. में बगदाद में प्रथम मानसिक अस्पताल खोला गया तथा इसके बाद डमासकश और ऐलेपों में भी इस प्रकार के अस्पताल खोले गये, जिनमें मनोरोगियों का मानवीय ढंग से उपचार करने पर बल दिया गया। इस्लामिक चिकित्सा विज्ञान में सर्वाधिक प्रसिद्ध चिकित्सक **ऐशइसना** है। इन्हें **चिकित्सकों का राजकुमार** कहा जाता है। इनकी प्रसिद्ध कृति **The Canon of Medicine** है, जिसमें अवसाद, मिरगी, उन्माद, हिस्टीरिया आनि मनोरोगों का विशेष रूप से अध्ययन किया तथा उपचार के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाया।

(स) उप्तर ग्रीक एवं रोमवासियों का योगदान

प्रिय पाठकों, महान् चिकित्सक हिपोक्रेट्स के बाद ग्रीक तथा रोमन चिकित्सक मनोरोगों के अध्ययन में उनके द्वारा बताये गये पथ का अनुकरण करते रहे। इस संबंध में मिस्र में काफी प्रगति हुयी एवं वहाँ के अनेक गिरजाघरों एवं मंदिरों को आरोग्यशालाओं में परिवर्तित कर दिया गया और वहाँ के शांत एवं स्वस्थ वातावरण में मनोरोगियों को रखने की विशेष रूप से व्यवस्था की गई। इन आरोग्यशालाओं की विशेष बात यह थी कि इनमें मनोरोगियों को विभिन्न प्रकार की सर्जनात्मक एवं मनोरंजन करने वाली गतिविधियों जैसे नृत्य करना, गाना–बजाना, बगीचे में घूमना इत्यादि में शामिल किया जाता था। इस समय मनोरोगों के उपचार में कुछ अन्य नयी तकनीकों को भी शामिल किया गया। जैसे व्यायाम, जल चिकित्सा, अल्पभोजन तथा कुछ विशिष्ट रोगों में शरीर से रक्त बहा देना, यांत्रिक दबाव इत्यादि।

मनोरोगों एवं असामान्य व्यवहार के अध्ययन में अनेक रोमन चिकित्सकों जैसे– एस्कलेपियड्स, सिसेरो, ऐरेटियस, गेलेन इत्यादि के द्वारा भी महत्वपूर्ण योगदान दया गया। **एस्कलेपियड्स** सबसे पहले चिकित्सक थे, जिन्होंने तीव्र (Acute) एवं चिरकालिक (Chronic) मनोरोगों के बीच तथा भ्रम (illusion) विभ्रम (भ्ंससनबपदंजपवद) एवं व्यामोह (Delusion) के बीच अन्तर स्पष्ट किया। इसी प्रकार **सिसेरो** ने सर्वप्रथम यह बताया कि मानसिक रोगों की उत्पत्ति में सावेमिक कारकों की भूमिका सर्वाधिक होती है। लगभग एक शताब्दी के उपरान्त **ऐरेत्यिस** द्वारा सबसे पहले यह विचार प्रतिपादित किया गया कि अवसाद एवं उन्माद एक ही रोग की दो अलग–अलग मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। ऐरेटियस का विचार था कि जो लोग सुस्त तथा गंभी स्वभाव के होते हैं उनमें विषादग्रस्त होने की संभावना अधिक होती है एवं जो व्यक्ति अधिक चिड़चिड़े एवं आक्रोशी प्रकृति के होते हैं, वे प्रायः उन्मादग्रस्त हो बतो हैं। प्रसिद्ध चिकित्सक **गेलेन** जो मूलतः ग्रीक थे तथा बाद में जाकर रोग में बस गये थे उन्होंने मनोरोगों के कारणों को निम्न दो वर्गों में विभक्त किया–

(A) शारीरिक कारण एवं

(B) मानसिक कारण

मस्तिष्क में चोट लगना, अत्यधिक मद्यमान, आघात, भय, मासिक धर्म में गड़बड़ी, आर्थिक अभाव, प्रेम में असफल होना इत्यादि कारकों को मनोरोगों का कारण माना गया।

पाठकों, ग्रीस तथा रोम की सभ्यता का सूर्य अस्त होने के बाद अर्थात जब गेलेन की मृत्यु हो गयी (200 A.D.) तत्पश्चात इन देशों में मनोरोगों के कारण एवं उपचार के संबंध यहाँ के दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित विचार एवं विधियाँ भी अपना प्रभाव खोने लगी और पुनः जीववादी चिन्तन जोर पकड़ने लगा अर्थात फिर से उस समय के लोग एवं चिकित्सक भी मनोरोगों का कारण दैवीय प्रकोप एवं दुष्ट आत्मा का शरीर में प्रवेश करना मानने लगे। इसलिये असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास में इसे **अन्धकार युग**

(Dark age) माना जाता है, जिसका समय 500 A.D. तक माना गया है। 500 A.D. से 1500 A.D. तक के समय को ''मध्ययुग'' (Middle age) माना गया है।

(3) मध्ययुग में पैशाचिकी

प्रिय पाठकों, जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास में 200 A.D. से 500 A.D. तक के समय को **अन्धकार युग** एवं 500 A.D. से 1500 A.D. तक के काल को **मध्ययुग** माना गया है। इन दोनों कालों में मानसिक रोगों के प्रति प्रायः एक जैसा दृष्टिकोण ही था। ग्रीक एवं रोमन सभ्यता के सूर्यास्त एवं इसाईयत के सूर्योदय से अंधकारयुग का आरंभ माना जाता है। इस युग में एक बार फिर मनोरोगों का मूल कारण बुरी आत्मा के प्रवेश या दैवीय प्रकोप को माना जाने लगा। इसाईयत के बढ़ते प्रचार ने इस मान्यता को और दृढ़ किया। मध्ययुग के प्रारंभ में भी मानसिक रोगों की उतपत्ति एवं उपचार के प्रति यही दृष्टिकोण बना रहा।

मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में असामान्य व्यवहार में **सामूहिक पागलपन** की एक नयी प्रवृत्ति की शुरूआत हुयी और धीरे–धीरे यूरोप के काफी बड़े हिस्से में यह रोग एक महामारी के रूप में फैल गया। इस सामूहिक पागलपन की बीमारी में जैसे ही हिस्टीरिया का लक्षण किसी एक व्यक्ति में दिखायी देता तो दूसरे लोग ीाी इससे प्रभावित होने लगते और असामान्य व्यवहार दिखाने लगते जैसे रोगना, उछलना, कूदना, एक दूसरे के कपड़े फाड़ देना आदि। इटली में इस प्रकार के सामूहिक नाच–गाने के उन्माद को **नृत्योन्माद** कहा गया। नृत्योन्माद को समान ही एक दूसरा तरह का उन्माद **वृकोन्माद** भी फैला। इसमें मनोरोगी को ऐसा लगता था कि वह एक भेड़िया के रूप में बदल गया है। इसलिये उसकी गतिविधियाँ भी भेड़ियें के समान ही हो जाती थी। 14वीं–15वीं सदी में सामूहिक पागलपन की यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर थी। मध्ययुग में मनोरोगों का उपचार मूलतः पादरियों द्वारा ही किया जाता था। इस युग के प्रारंभ में तो मनोरोगों के उपचार हेतु कुछ मानवीय तरीके अपनाये गये लेकिन बाद में फिर से अपद्रूतनिरासन एवं ट्रीफाइनेशन जैसी अवैज्ञानिक एवं अमानवीय विधियों को अपनाया गया।

15वीं सदी के उत्तरार्द्ध में लोगों में यह विचार काफी सुदृढ़ हो गया कि बुरी आत्मा का आधिपत्य दो तरह का होता है। एक आधिपत्य ऐसा होता है। जिसमें व्यक्ति के स्वयं के पापकर्म के फलस्वरूप कोई बुरी आत्मा व्यक्ति की इच्छा के विरूद्ध उसमें प्रवेश कर जाती हैं और उसमें मनोरोगों को जन्म देती है। दूसरे प्रकार का आधिपत्य ऐसा होता हे। जिसमें व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से बुरी आत्मा से मित्रता कर लेता है और असामान्य व्यवहार करने लगता है। इस दूसरे प्रकार के आधिपत्य में व्यक्ति उस बुरी आत्मा की अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करके विभिन्न प्रकार के सामाजिक उपद्रव जैसे–आँधी–तूफान, बाढ़ महामारी, अकाल आदि लाकर लोगों को अनेक तरीकों से परेशान करता है। इस प्रकार के मनोरोगियों को **डायन** या **जादूगर** माना जाने लगा। 15वीं सदी के अन्त तक इन दोनों प्रकार के मनोरोगियों में अन्तर खत्म हो गया तथा सभी मानसिक रोगियों को अब **जादूगर** या **डायन** ही माना जाने लगा और इनका उपचार भी अत्यन्त अमानवीय ढंग से किया जाता था। इनके उपचार के लिये कठोर शारीरिक दण्ड जैसे कोड़ा लगाना, अंगों को जलाना आदि दिया जाता था। उस युग के पादरियों ने इस प्रकार के जादू–टोना से लोगों को बचाने हेतु एक नियमावली भी बनायी, जिसे ''The withes hammer'' कहा गया। इसमें जादू–टोना के प्रभावों को दूर करने एवं डाइन को न्यायिक दंड देने के तरीकों का उल्लेख था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्ययुग में मनोरोगों के अध्ययन के संबंध में किसी प्रकार की कोई प्रगति नहीं हुयी। न तो मनोरोगों के कारणों के संबंध में और न ही इनके उपचार के संबंध में किसी तार्किक एवं वैज्ञानिक विचारधारा का प्रतिपादन किया गया।

4. मानवीय दृष्टिकोण का उद्भव–

प्रिय विद्यार्थियों, 16वीं सदी के प्रारंभ में ही मनोरोगों के संबंध में मध्ययुग के ईश्वरपरक एवं अंधविश्वायुक्त विचारधारा के विरूद्ध आवाज उठने लगी और इस संबंध में एक नवीन मानवीय दृष्टिकोण का उद्भव हुआ, जिसमें यह माना गया कि शारीरिक रोग के समान ही मनोरोग भी होते है, इनका कारण कोई दैवीय प्रकोप नहीं होता है। अतः मानसिक रोगियों का उपचार भी मानवीय ढंग से ही होना

चाहिये। इस सन्दर्भ में जिन विद्वानों एवं चिकित्सकों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया, उनका विवेचन निम्नानुसार है–

(A) ''पारासेल्सस'' एक अत्यन्त प्रख्यात चिकित्सक हुये, जिन्होंने असामान्यता के प्रति मानवीय दृष्टिकोण का परिचय दिया इनका विचार था कि ''नृत्योन्माद'' रूपी सामूहिक पागलपन की प्रवृत्ति दैवीय प्रकोप या शरीर पर बुरी आत्मा का आधिपत्य होने के कारण उत्पन्न नहीं होती वरन अन्य शारीरिक रोगों के समान यह भी एक रोग है, जिसके इलाज के मानवीय ढंग पर वैज्ञानिक तरीके से विचार करना चाहिये। पारासेल्सस ने मनोरोगों के मनोवैज्ञानिक कारणों पर प्रकाश डाला तथा मानसिक रोगों के उपचार हेतु **''शारीरिक_चुम्बकीय''** विधि को अपनाने पर बल दिया। आगे चलकर यही विधि सम्मोहन विधि के नाम से लोकप्रिय हुयी।

(B) पाठकों, यद्यपि पारासेल्सस ने मनोरोगों के कारण के संबंध में दुष्ट आत्मा संबंधी विचारों का खण्डन किया, किन्तु इन्होंने मनोरोगों की उत्पत्ति में नक्षत्रों के प्रभाव को स्वीकार किया है। इनका कहना था कि व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर चन्द्रमा का प्रभाव पड़ता है।

महान जर्मन चिकित्सक **जोहान वेयर** ने असामान्य व्यवहार एवं मनोरोगों के संबंध में अपने विचारों का प्रतिपादन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''The Deception of Demons'' में किया है, जिसमें उन्होंने बताया कि मनोरोगी किसी बुरी आत्मा के आधिपत्य से ग्रसित नहीं होते और न ही वे जादू–टोना करने की कला में निपुण होते हैं, वरन् कुछ शारीरिक एवं मानसिक कारणों से उनमें असामान्य व्यवहार विकसित हो जाता है। अतः ऐसे लोगों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिये और उनका इलाज मानवीय ढंग से करना चाहिये। उस समय के बुद्धिजीवी वर्ग ने तो जोहान वेयर के मत का समर्थन किया, किन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे जो उनके विचारों से सहमत नहीं थे और उन्होंने वेयर के विचारों का मजाक उड़ाया। चर्च द्वारा भी वेयर की पुस्तक तथा विचारधारा पर प्रतिबंध लगा दिया गया और यह प्रतिबंध बीसवीं सदी के आरंभ तक लगा रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि वेयर के विचार बहुत अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो पाये।

(C) रेजिनाल्ड स्कॉट ने भी असामान्यता के संबंध में मानवीय दृष्टिकोण के विषय में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उस समय के अन्य चिकित्सकों के समान इन्होंने भी मनोरोगों की उत्पत्ति एवं उपचार के संबंध में पैशाचिकी का घोर विरोध किया और इनके विरूद्ध तर्कसम्मत वैज्ञानिक विचारों का प्रतिपादन किया, जिनका वर्णन उन्होंने सन् 1584 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध कृति ''Discovery of witchcraft'' में किया है, लेकिन इंग्लैण्ड के राजा जेम्स प्रथम ने इस पुस्तक पर न केवल प्रतिबंध लगाया बल्कि उसकी प्रतियों में आग लगा दी गई, किन्तु उस समय तक मानवीय दृष्टिकोण अत्यन्त बल पकड़ चुका था क्योंकि चर्च के पादरी भी दुरात्मा संबंधी दृष्टिकोण का पूरे जोर–शोर से खण्डन करने लगे थे।

इन सन्दर्भ में **सते–बिनसेंट डी पाल** का योगदान उल्लेखनीय है, जिन्होंने घोर विरोध के बीच तथा अपने जीवन को संकट में डाल कर इस बात की घोषणा की कि शारीरिक रोग के समान मानसिक बीमारी भी एक प्रकार का रोग है, कोई दैवीय प्रकोप नहीं। अतः मनोरोगियों के जीवन के कल्याण के लिये ईसाईयों को मानवीय दृष्टिकोण अपना कर मानवता का परिचय देना चाहिये। इस प्रकार जैसे–जैसे मानवीय दृष्टिकोण का विचार जोर पकड़ता गया वैसे–वैसे लोगों के मन से दुरात्मा संबंधी अंधविश्वास धीरे–धीरे दूर होने लगा और उनके मन में यह विचार पनपने लगा कि मनोरोगियों का उपचार भी किसी मानसिक अस्पताल या मानसिक स्वास्थ्य केन्द्रों में होना चाहिये न कि किसी सुनसान जगह पर। इसके परिणामस्वरूप सोलहवीं सदी के मध्य से ही अनेक चर्च एवं मंदिरों को आरोग्यशालाओं में बदल दिया गया, किन्तु इस संबंध में भी दुर्भाग्य की बात यह रही कि इन आरोग्यशालाओं का निर्माण तो रोगियों का मानवीय ढंग से इलाज करने के लिये किया गया था, किन्तु वास्तविकता कुछ और ही थी। यहाँ पर भी उनके साथ जानवरों से भी खराब अत्यन्त अमानवीय व्यवहार किया जाता था।

(D) प्रिय पाठकों, मनोरोगियों के प्रति सही अर्थों में मानवीय दृष्टिकोण का उद्‌भव प्रसिद्ध फ्रेंच चिकित्सक **फिलिपिनेल** (1745–1826) के सक्रिय प्रयासों के परिणामस्वरूप हुआ। फिलिप पिनेल को

आधुनिक मनोरोगविज्ञान (Modern Psychiatry) का जनक माना जाता है। सन् 1792 में फ्रांस की क्रान्ति का प्रथम चरण समाप्त होने पर पिनेल के पेरिस के मानसिक अस्पताल **लाविस्टरे** के प्रभारी पद पर नियुक्त किया गया। पद ग्रहण करते ही पिनेल ने जो सबसे पहला और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह था वहाँ के मनोरोगियों को लोहे की जंजीरों से आजाद करवाना और उन्हें हवा एवं प्रकाशयुक्त कमरों में रखना। अस्पताल के अधिकारियों द्वारा पिनेल के इन कार्यों का अत्यन्त मजाक उड़ाया गया किन्तु मानवीय ढंग से उपचार करने पर मनोरोगियों के व्यवहार में काफी सकारात्मक परिवर्तन होने लगे और उन्होंने उपचार में सहयोग करना भी आरंभ कर दिया। इसके बाद पिनेल को **सालपेट्रिर अस्पताल** का प्रभारी बनाया गया। वहाँ पर भी उन्होंने मानसिक रोगियों का मानवीय ढंग से उपचार करना प्रारंभ किया, जिसके परिणाम अत्यन्त सकारात्मक थे। पिनेल के बाद उनके शिष्य **जीनएस्क्यूटरोल** द्वारा उनके कार्य को आगे बढ़ाया गया और लगभग 10 ऐसे मानसिक अस्पतालों की स्थापना की गई, जहाँ मनोरोगियों का मानवीय तरीके के उपचार किया जाता था।

इस प्रकार फ्रांस विश्व का ऐसा प्रथम देश बना जहाँ मनोरोगियों का इलाज मानवीय ढंग से किया जाने लगा। इसका प्रभाव विश्व के दूसरे देशों पर भी बड़ा और उन्होंने भी मनोरोगों के मानवीय उपचार की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये। जिस समय फ्रांस में पिनेल अपने क्रांतिकारी कार्य को अंजाम दे रहे थे, उसी दौरान इंग्लैण्ड में विलियम टर्क ने **चार्क रिट्रीट** नामक मानसिक अस्पताल खोला, जिसमें मानसिक रोगों के मानवीय उपचार पर बल दिया गया।

इस प्रकार हम देखते है कि असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास में पूर्व वैज्ञानिक काल, जो प्राचीन समय में लेकर सन् 1800 तक का माना गया है, मनोरोगों के संबंध में अत्यन्त उतार–चढ़ाव का समय रहा है। इस युग में असामान्यता को लेकर समय–समय पर अनेक विचारधाराओं का प्रतिपादन हुआ। सबसे प्रारंभ में जीववादी चिन्तन का बोलबाला रहा, जिसमें दुष्टात्मा या दैवीय प्रकोप को ही मनोरोगों की उत्पत्ति का मूल कारण माना गया। इसके बाद ग्रीक चिकित्सक हिपोक्रेट्स के प्रकृतिवाद का उद्‌भव हुआ, जिसके अनुसार असामान्यता को शारीरिक रोग के समान ही एक मानसिक रोग माना गया और इसकी उत्पत्ति में शारीरिक एवं पचविरणी कारकों की भूमिका को स्वीकार किया गया। इसके उपरान्त 1500 A.D. तक अर्थात् मध्ययुग में मनोरोगों के संबंध में दुरात्मा संबंधी दृष्टिकोण ही प्रचलित रहा, किन्तु बाद के समय में अर्थात् सन् 1800 तक इस सन्दर्भ में अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन हुये और मनोरोगियों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण का उद्‌भव हुआ, जिसमें नेतृत्व फ्रेंच चिकित्सक फिलिपपिनेल ने किया।

7.3.2 असामान्य मनोविज्ञान का आधुनिक उद्‌भव

(Moderna cenging of Abnormal psychology) (सन् 1801– सन् 1950) प्रिय पाठकों, असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास में इस काल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस युग में मनोरोगों के कारणों एवं उपचार के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण विचारों का प्रतिपादन किया गया और उनके प्रयोग भी किये गये।

फ्रेंच चिकित्सक फिलिप पिनेल तथा इंग्लैण्ड में टर्क ने जिन मानवीय उपचार विधियों का प्रयोग किया, उनके परिणामों ने मनोरोगों के संबंध में पूरे विश्व में एक क्रांति सी ला दी। अमेरिका में **बेंजामिन रश** के कार्यों के माध्यम से इसके प्रभावों का पता चलता है। रश ने सन् 1783 में **पेनसिलवानिया अस्पताल** में कार्य करना प्रारंभ किया तथा सन् 1796 में मनोरोगों के उपचार हेतु एक अलग वार्ड बनवाया।

इस वार्ड में मनोरोगियों के मनोरंजन के लिये विभिन्न प्रकार के साधन थे जिससे कि उनके सृजनात्मक क्षमताओं को विकसित किया जा सके। इसके बाद अपने कार्य को और आगे बढ़ाते हुये उन्होंने स्त्री एवं पुरूष रोगियों के लिये अलग–अलग वार्ड बनवाये उनके साथ अधिकाधिक मानवीय व्यवहार अपनाने पर बल दिया गया। सन् 1812 में मनोरोग विज्ञान पर उनकी पुस्तक भी प्रकाशित हुयी, जिसमें मनोरोगों के उपचार के लिये **रक्तमोचन विधि (Blood leting method)** एवं विभिन्न प्रकार के शोधक अपनाने पर जोर दिया जो किसी भी प्रकार से मानवीय नहीं था।

19वीं सदी के प्रारंभ में अमेरिका में मनोरोगों के संबंध में एक विशेष आन्दोलन की शुरूआत हुयी, जिसका नेतृत्व एक महिला स्थूल शिक्षिका **डोराथियाडिक्स** द्वारा किया गया। यह आन्दोलन मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान आन्दोलन के नाम से लोकप्रिय हुआ। इस आन्दोलन का प्रमुख लक्ष्य था–''मनोरोगियों के साथ हर संभव मानवीय व्यवहार करना।'' यूरोप में तो 18वीं सदी के कुछ अन्तिम वर्षों में ही इस प्रकार के मानवीय दृष्टिकोण का उद्‌भव हो गया था, किन्तु अमेरिका में इसका प्रादुर्भाव 19वीं सदी के प्रारंभ में हुआ। इस आन्दोलन के परिणाम स्वरूप मनोरोगी जंजीरों से मुक्त हो गये और उन्हें हवा एवं रोशनी से युक्त कक्षों में रखा गया। इसके साथ–साथ उन्हें खेती एवं बढ़ईगिरी इत्यादि के कार्यों में भी लगाया गया, जिससे कि उनका शरीर एवं मन कुछ सर्जनात्मक कार्यों में व्यस्त रहे। डिक्स के सर्जनात्मक कार्योंम में व्यस्त रहे। डिक्स के इस आन्दोलन का प्रभाव केवल अमेरिका में ही नहीं वरन स्कॉटलैण्ड एवं कनाडा आदि देशों में भी पड़ा और वहाँ के मानसिक अस्पतालों की स्थिति में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुये। डिक्स ने अपने जीवनकाल में लगभग 32 मानसिक अस्पताल खुलवाये। मानसिक रोगियों के कल्याण हेतु अत्यन्त सराहनीय एवं प्रेरणास्पद कार्य करने वाली इस महिला सुधारक को अमेरिकी सरकार द्वारा सन् 1901 में ''पूरे इतिहास में मानवता का सबसे उप्तम उदाहरण'' बताया गया।

अमेरिका के साथ–साथ दूसरे देशों में भी जैसे कि जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रिया आदि में भी असमान्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। फ्रांस में ऐसे कार्यों का श्रेय सर्वप्रथम **एनटोन मेसमर** को जाता है। उन्होंने **पशु चुम्बकत्व** पर महत्वपूर्ण कार्य किया। मेसमर इलाज के लिये रोगियों में बेहोशी के समान मानसिक स्थिति उत्पन्न कर दे देते थे। इस विधि को **मेस्मरिज्म** के नाम से जाना गया। बाद में यही विधि **सम्मोहन** (Hypnosis) के नाम से प्रसिद्ध हुयी। बाद में नैन्सी शहर के चिकित्सकों जैसे लिबाल्ट एवं उनके शिष्य बर्नहिम ने मानसिक रोगों के उपचार में सम्मोहन विधि का अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रयोग किया, जिसके कारण यह विधि उस समय मनोरोगों के उपचार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली विधि बन गयी। इसके बाद प्रसिद्ध **तंत्रिकाविज्ञानी शार्को** ने पेरिस में हिस्टीरिया के उपचार में सम्मोहन विधि का सफलतापूर्व प्रयोग किया। यदि असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास में शार्कों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान देखा जाये तो वह पेरिस के एक अत्यन्त लोकप्रिय शिक्षक के रूप में है, जिनका कार्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में कुछ छात्रों को प्रशिक्षित करना था। आगे चलकर ये छात्र मनोविज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय हुये। शार्कों के विद्यार्थियों में से दो छात्र ऐसे है, जिनके कार्यों के लिये इतिहास उनका आभारी है। इनमें से एक है– सिगमण्ड क्रायड (सन् 1856 – सन् 1939)। ये सन् 1885 में वियाना से शार्कों से शिक्षाग्रहण करने आये थे तथा दूसरे हैं, **पाइरे जेनेट** जो पेरिस के ही रहने वाले थे। शार्कों ने अपनी मृत्यु के 3 साल पूर्व जेनेट को अस्पताल का निदेशक नियुक्त किया। जेनेट ने सफलतापूर्वक अपने गुरू शार्कों के कार्यों को आगे बढ़ाया। मनोरोगों के क्षेत्र में जेनेट का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान है–मनोस्नायुविकृति (Psychoneurosis) में मनोविच्छेद (Dissociation) के महत्त्व को अलग से बताना।

फ्रांस के साथ–साथ जर्मनी में भी इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण कार्य हुये, जिनमें **विलिहेल्म ग्रिसिंगर** (1817–1868) और **ऐमिल क्रेपलिन** के कार्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इन दोनों चिकित्सकों ने मनोरोगों का एक दैहिक आधार (Somatic basis) माना और इस विचारी का प्रतिपादन किया कि जिस प्रकार शरीर के किसी अंग में कोई विकार आने पर शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार मनोरोगों के उत्पन्न होने का कारण भी अंगविशेष में विकृति ही है। इसे ''असामान्यता का अवयवी दृष्टिकोण'' (arganic viewpoint of abnormality) कहा गया। सन् 1845 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में ग्रिंसिगर ने अत्यन्तदृढ़तापूर्वक इस मत का प्रतिपादन किया कि मनोरोगों का कारण **दैहिक** होता है। ग्रिसिंगर की तुलना में ऐमिल क्रेपलिन का योगदान ज्यादा महत्वपूर्ण है, क्योंकि भिन्न–भिन्न लक्षणों के आधार पर इन्होंने मनोरोगों को अनेक श्रेणियों में बाँटा और उनकी उत्पत्ति के अलग–अलग कारण भी बताये। सर्वप्रथम **क्रेपलिन** ने ही **उन्माद–विषाद मनोविकृति** नामक मानसिक रोग का नामकरण किया और आज भी यह रोग इसी नाम से जाना जाता है। उन्होंने जो दूसरा महत्वपूर्ण मनोरोग बताया, उसका नाम था **डिमेंशिया प्राक्रोवस** इसका नाम बदलकर वर्तमान समय में **मनोविदालिता** या

सिजोफ्रेनिया कर दिया गया है। क्रेपलिन ने मनोरोगों का कारण शारीरिक या दैहिक मानते हुये इसे निम्न दो वर्गों में विभक्त किया–

1. **अन्तर्गत कारक (Endogenous factors)**
2. **एवं बहिर्गत कारक (Exogenous factors)**

1. अन्तर्गत कारक– इन कारकों का संबंध वंशानुक्रम से माना गया।

2. बहिर्गत कारक– इन कारकों का संबंध मस्तिष्कीय आघात से था, जिसके अनेक कारण हो सकते थे। जैसे–शारीरिक रोग, विष अथवा दुर्घटना इत्यादि।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आस्ट्रिया में प्रसिद्ध तंत्रिका विज्ञानी एवं मनोरोग विज्ञानी सिगमण्ड फ्रायड द्वारा मनोरोगों के सन्दर्भ में उल्लेखनीय कार्य किया गया। इनका महत्वपूर्ण योगदान यह है कि सर्वप्रथम इन्होंने ही मनोरोगों की उत्पत्ति में जैविक कारकों की तुलना में मनोवैज्ञानिक कारकों को अधिक महत्वपूर्ण बताया। मनोरोग विज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड के योगदान में अचेतन, स्वप्न विश्लेषण, मुक्त साहचर्य विधि, मनोरचनायें तथा मनोलैंगिक सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फ्रायड ने **जोसेफ ब्रियुअर** से मनोस्नायुविकृति के रोगियों पर सम्मोहन विधि का सफलतापूर्वक प्रयोग करना सीखा। इस विधि के प्रयोग के दौरान उन्होंने देखा कि सम्मोहित स्थिति में रोगी बिना किसी संकोच एवं भय के अपने अचेतन में दमित विचारों, इच्छाओं, भावनाओं, संघर्षों, आदि को अभिव्यक्त करता है, जिनका संबंध स्पष्ट रूप से उस व्यक्ति के रोग से होता है। फ्रायड तथा ब्रियुअर ने इसे **विरेचन विधि** (Catthartic method) का नाम दिया। इसके बाद सन् 1885 में फ्रायड, प्रसिद्ध फ्रेंच चिकित्सक शार्को से शिक्षा प्राप्त करने पेरिस गये। वहाँ उन्होंने सम्मोहन विधि से मनोस्नायुविकृति के रोगियों में चमत्कारी परिवर्तन देखे। वे इससे अत्यन्त प्रभावित हुये, किन्तु वियाना वापस आने के बाद उन्होंने सम्मोहन विधि द्वारा उपचार करना बन्द कर दिया क्योंकि उनका मत था कि इस विधि द्वारा रोग का केवल अस्थायी उपचार होता है, रोग पूरी तरह दूर नहीं होता है। असामान्य व्यवहार के संबंध में जो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार फ्रायड द्वारा दिया गया वह यह था कि उनके मतानुसार अधिकतर मनोरोगों का कारण अचेतन में दमित इच्छायें, विचार, भावनायें आदि हैं अर्थात मनोरोगों का मूल कारण अचेतन (Unconscious) है। जो विचार, भावनायें या इच्छायें दुःखद, अनैतिक, असामाजिक या अमानवीय होती हैं, उनको व्यक्ति अपने चेतन मन से हटाकर अचेतन में दबा देता है। फ्रायड ने इसे **दमन** (Repression) कहा है। इस प्रकार से इच्छायें एवं विचार नष्ट नहीं होते वरन् दमित हो जाते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। इस लिये किसी भी व्यक्ति के व्यवहार का ठीक प्रकार से अध्ययन करने के लिये उसके अचेतन में दमित संवेगों, विचारों को चेतन स्तर पर लाना अत्यन्त आवश्यक है। इस हेतु इन्होंने दो विधियों का प्रतिपादन किया–

(A) मुक्त साहयर्च विधि (Free association method)

(B) स्वप्न–विश्लेषण विधि (Dream Analysis method)

अपनी इन विधियों का प्रयोग करके फ्रायड ने सन 1900 में अपनी सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक ''The interpretation of dream'' का प्रकाशन किया। मनोरोगों के उपचार हेतु फ्रायड ने जिस विधि का प्रयोग किया उसे ''मनोविश्लेषण विधि'' (Psychoanalytic Method) कहा जाता है। इस विधि में मनोरोगी के अचेतन में दमित इच्छाओं, विचारों, भावों आदि को मुक्तसाहचर्य विधि एवं स्वप्न–विश्लेषण के माध्यम से बाहर निकाला जाता हे एवं उसके आधार पर रोग का निदान करके उपचार किया जाता है। मनोविश्लेषण विधि के उत्साहजनक परिणाम आने से यह विधि पूरे विश्व में फैला गयी और इनसे इस विधि को सीखने हेतु विश्व के अनेक देशों से लोगों इनके पास आने लगे। फ्रायड के शिष्यों में कार्य युंग एवं एल्फ्रेडएडलर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एडलर वियाना के ही थे। फ्रायड के कुछ विचारों से असहमत होने के कारण बाद में युग एवं एडलर ने उनसे अपना संबंध तोड़कर नयी अवधारणाओं को जन्म दिया। युग का मनोविज्ञान **विश्लेषणात्मक_मनोविज्ञान** (Analytic psychology) तथा **एडलर** का मनोविज्ञान ''वैयक्तिकमनोविज्ञान'' (Individual psychology) के नाम से जाना जाता है।

फ्रायड जब 80 साल के थे तो वे अत्यन्त गंभीर रूप से बीमार हो गये तथा उन्हें हिटलर के जर्मन सैनिकों ने पकड़ लिया क्योंकि हिटलर ने वियाना पर आक्रमण कर दिया था। अपने कुछ शिष्यों एवं दोस्तों की सहायता से उन्हें सैनिकों के कब्जे से छुड़ा लिया गया तथा इसके बाद वे लंदन चले गये और वहाँ 83 वर्ष की आयु में अर्थात सन् 1939 में कैंसर के कारण उनका निधन हो गया।

असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास में **एडॉल्फमेयर** का योगदान भी अविस्मरणीय है, जो स्विट्जरलैण्ड के थे किन्तु सन् 1892 में अमेरिका आकर वहीं पर बस गये तथा यहाँ पर इन्होंने मनोरोगों के क्षेत्र में अत्यन्त उल्लेखनीय कार्य किये। असामान्यता के सन्दर्भ में मेयर द्वारा प्रतिपादित विचारधारा को ''मनोजैविक दृष्टिकोण'' के नाम से जाना जाता है। मेयर का मत था कि मनोरोगों का कारण केवल दैहिक ही नहीं वरन मानसिक भी होता है। इसलिये उपचार भी दोनों आधारों पर किया जना चाहिये। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनोरोगों के संबंध में मेयर ने एक मिश्रित विचारधारा को जन्म दिया, जो ज्यादा उपयुक्त प्रतीत होती है। इसके साथ–साथ मेयर ने मनोरोगों की उत्पत्ति में सामाजिक कारकों की भूमिा को भी स्वीकार किया। इसलिये **रेनी** ने इनके सिद्धान्त का नाम **''मनोजैविक सामाजिक सिद्धान्त''** भी रखा है। मेयर की मान्यता थी मनोरोगों की सफलतापूर्वक चिकित्सा तभी संभव है जब उसके दैहिक पदार्थों जैसे कि हार्मोन्स, विटामिन्स एवं शरीर के विभिन्न अंगों की क्रियाविधि को संतुलित एवं नियंत्रित करने के साथ–साथ रोगी के घर के वातावरण के अन्तःपारस्परिक संबंधों में भी सुधार किया जाये। वास्तव में देखा जाये तो मेयर के अनुसार मनोरोगियों का उपचार रोगी तथा चिकित्सक के मध्य एक प्रकार का पारस्परिक प्रशिक्षण हैं और इसकी सफलता इनके परस्पर सौहार्द्रपूर्ण संबंधों पर निर्भर करती है। पाठकों, मनोरोगों के उपचार हेतु आज भी इस प्रकार की विधियों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा रहा है।

इस प्रकार हम सकह सकते हैं कि मेयर के अनुसार मनोरोगों के अध्ययन हेतु एक समग्र दृष्टिकोण का होना अत्यावश्यक है।

7.3.3 आज का असामान्य मनोविज्ञान : सन् 1951 से अब तक (Abnormal psychology Today)

जैसा कि स्पष्ट है कि 20वीं शताब्दी के पूवाद्ध तक केवल मानसिक अस्पतालों में ही मानसिक रोगियों का उपचार किया जाता था, किन्तु समय के साथ धीरे–धीरे इन मानसिक अस्पतालों की सच्चाई लोगों के समन समक्ष प्रकट होने लगी और इस बात का पता चला कि चिकित्सा के नाम पर इन अस्पतालों में रोगियों के साथ कितना अमानवीय व्यवहार किया जाता है। जिनकों स्नेह और आत्मीयता की आवश्यकता है, उनके साथ अत्यन्त घृणित और क्रूर बर्ताव किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप रोग ठीक होने की बजाय और बढ़ जाता है और कभी–कभी तो रोगी की मृत्यु तक हो जाती थी। प्रसिद्ध विद्वान् किश्कर (Kisker, 1985) ने ऐसे मानसिक अस्पतालों की स्थिति का वर्णन करते हुये कहा है कि ''मानसिक रोगियों को इन अस्पतालों में एक छोटे से कमरे में झुण्ड बनाकर रखा जाना, ऐसे कमरों में शौचालय भी नहीं होना, धूप और हवा भी लगभग न के बराबर मिलना, आधा पेट खाना दिया जाना, कमसिन लड़कियों को अस्पताल से बाहर भेजकर शारीरिक व्यापार कराया जाना, अस्पताल अधिकारियों द्वारा गाली–गलौज करना आदि काफी सामान्य था।''

इसके परिणामस्वरूप मानसिक अस्पतालों में रोगियों को रखने और उनका इलाज करवाने के प्रति लोगों की मनोवृत्ति में बदलाव आया और इन मानसिक अस्पतालों स्थान **सामुदायिक मानसिक स्वास्थ्य केन्द्र** (Community mental health centres) ने ले लिया। पाठकों, इन स्वास्थ्य केन्द्रों का प्रमुख उद्देश्य मानसिक रोगियों की मानवीय तरीके से चिकित्सा करना है। मानसिक स्वास्थ्य केन्द्रों द्वारा मुख्यतः निम्न कार्य किये जाते हैं–

i- चौबीस घंटा आपातकालीन देखभाल
ii- अल्पकालीन अस्पताली सेवा
iii- आंशिक अस्पताली सेवा
iv- बाह्य रोगियों की देखभाल
v- प्रशिक्षण एवं परामर्थ कार्यक्रम आदि।

प्रिय पाठकों, अमेरिका तथा कनाडा में ऐसे अनेक केन्द्र हैं और इन्हें अपने कार्यों के लिये सरकार से भी पर्याप्त सहायता मिलती है। आजकल इन देशों में मानसिक स्वास्थ्य केन्द्रों का एक नवीन रूप विकसित हुआ है। इसे **संकट काल हस्तक्षेप केन्द्र** (Crisis intervention centre) कहा जाता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट हे इन केन्द्रों को प्रमुख उद्देश्य जरूरतमंद मनोरोगियों को तुरंत सहायता पहुँचाना होता है। इन केन्द्रों की विशेष बात यह है कि इनमें उपचार हेतु पहले से समय लेना आवश्यक नहीं होता है एवं सभी वर्ग के लोगों की यथासंभव सहायता हेतु तुरंत आवश्यक कदम उठाये जाते हैं। वर्तमान समय में संकटकाल हस्तक्षेप केन्द्र का भी एक नया रूप ''हॉटलाइन दूरभाष केन्द्र'' (Hatlinetelephone centre) के रूप में विकसित हुआ है। इन केन्द्रों में चिकित्सक दिन या रात में किसी समय केवल टेलीफोन से सूचना प्राप्त करके भी सहायता करने हेतु तैयार रहते हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य मनोरोगियों की अधिकाधिक देखभाल एवं सेवा करना होता है। इस तरह का पहला दूरभाष केन्द्र सर्वप्रथम **लोस एन्जिल्स** के **चिल्ड्रेन अस्पताल** में खोला गया, जिसकी सफलता से प्रभावित होकर विश्व के विभिन्न देशों में ऐसे केन्द्र तेजी से खुल रहे हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न (खण्ड–क)

(1) ग्रीक चिकित्सक हिपोक्रेट्स की विचारधारा को कहा जाता है–

(A) जीववाद (B) प्रकृतिवाद

(C) मनोविश्लेषणवाद (D) इनमें से कोई नहीं

(2) प्रसिद्ध पुस्तक **''रिपब्लिक''** के लेखक हैं–

(A) प्लेटो (B) अरस्तू

(C) सुकरात (D) हिपोक्रेट्स

(3) असामान्य मनोविज्ञान का आधुनिक उद्भव माना जाता है–

(A) 1801–1950 तक (B) 1850–1950 तक

(C) 1950–1990 तक (D) 1901–1950 तक

(4) किस इस्लामिक चिकित्सक को ''चिकित्सकों का राजकुमार'' कहा जाता है–

(A) क्रेपलिन (B) जोहान वेयर

(C) ऐभइसना (D) शार्कों

(5) आधुनिक चिकित्साशास्त्र के जनक है–

(A) प्लेटो (B) सुकरात

(C) हिपोक्रेट्स (D) फ्रायड

(खण्ड–ख)

(सत्य / असत्य)

(1) प्रकृतिवाद के अनुसार मनोरोगों का कारण शरीर में बुरी आत्मा का प्रवेश कर जाना है। (सत्य / असत्य)

(2) मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड की विचारधारा को मनोविश्लेषणवाद के नाम से जाना जाता है। (सत्य / असत्य)

(3) मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान आन्दोलन की नेता डोराथिया डिक्स थी।

(सत्य / असत्य)

(4) एडलर के मनोविज्ञान का नाम विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान है।

(सत्य / असत्य)

(5) युग के मनोविज्ञान का नाम वैयक्तिक मनोविज्ञान है।

(सत्य / असत्य)

7.4 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों, उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास में अत्यन्त उतार–चढ़ाव रहा है। पूर्ववैज्ञानिक काल में असामान्य व्यवहार को मूल रूप से बुरी आत्मा के प्रवेश अथवा देवी–देवताओं के प्रकोप से उत्पन्न होना माना जाता था। आधुनिक काल में (सन् 1801–1950) इस विचार को अस्वीकार कर दिया गया और असामान्य व्यवहार को एक प्रकार का मनोरोग समझकर इसका उसी प्रकार इलाज करने पर बल डाला गया, जिस प्रकार शारीरिक रोगों का उपचार किया जाता है। इस काल में अन्य कारकों के साथ–साथ सामाजिक कारकों को भी असामान्य व्यवहार का एक प्रमुख निर्धारक माना गया। आधुनिक काल में मनोरोगियों का उपचार मुख्य रूप से उन्हें मानसिक अस्पतालों में भर्ती करके किया जाता था, किन्तु सन् 1950 के बाद इसमें परिवर्तन आया क्योंकि मानसिक अस्पतालों में रोगियों के साथ अत्यन्त अमानवीय व्यहवार किया जाता था। अतः वर्तमान समय में विश्व के अनेक देशों में इन मानसिक अस्पतालों का स्थान सामुदायिक मानसिक स्वास्थ्य केन्द्रों ने ले लिया है, जिनके नवीनतम रूप ''संकटकाल हस्तक्षेप केन्द्र'' एवं ''हॉटलाइन दूरभाष केन्द्र'' हैं।

7.5 शब्दावली

पिशाच आधिपत्य – किसी प्राणी के शरीर पर बुरी आत्मा का अधिकार हो जाना।
अपद्रूत–निसारन – बुरी आत्मा को शरीर से बाहर निकालना।
ट्राफाइनेशन – पूर्ववैज्ञानिककाल में प्रचलित मनोरोगों के उपचार की विधि।
जिसमें नुकीले पत्थरों से मार–मार कर मनोरोगी की खोपड़ी में छेद कर दिया जाता था, ताकि उस दिद्र से बुरी आत्मा बाहर निकल सके।
विषाद या अवसाद – एक प्रकार का मनोरोग जिसमें व्यक्ति अपने जीवन के प्रति अत्यधिक निराश हो जाता है तथा अत्यधिक अकेलापन महसूस करता है और उसमें आत्महत्या की प्रवृत्ति पनपने लगती है।

7.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(खण्ड–क)
(वस्तुनिष्ठ प्रश्न)
(1) B
(2) A
(3) A
(4) C
(5) C
(खण्ड–ख)
(सत्य / असत्य)
(1) असत्य
(2) सत्य
(3) सत्य
(4) असत्य
(5) असत्य

7.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) सिंह, अरूण कुमार । (2001) आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लोरोड, दिल्ली।

7.8 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न–1 असामान्य मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से प्रकाश डालिये

इकाई–8 मनोरोग का अर्थ सामान्य एवं असामान्य व्यवहार की विशेषतायें

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 मनोरोग का अर्थ
8.4 सामान्य व्यवहार की विशेषतायें
8.5 असामान्य व्यवहार की विशेषतायें
8.6 सारांश
8.7 शब्दावली
8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.10 सहायक उपयोगी पाठ्य–सामग्री
8.11 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

प्रिय पाठकों, इससे पूर्व की इकाई में हमने असामान्य मनोविज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विस्तार से अध्ययन किया है। प्रस्तुत ईकाई में हमारे अध्ययन का विषय है–मनोरोग का अर्थ तथा सामान्य एवं असामान्य व्यवहार की विशेषताओं का अध्ययन करना।

प्रिय पाठकों, जैसा कि हम सभी इस तथ्य से परिचित है कि वर्तमान समय में किसी भी व्यक्ति के स्वास्थ्य से तात्पर्य केवल शारीरिक स्वास्थ्य से ही नहीं है, वरन् स्वास्थ्य से तात्पर्य उसके समग्र स्वास्थ्य से लिया जाता है। कहने का आशय यह है कि केवल शरीर का स्वस्थ होने होना ही किसी भी व्यक्ति के पूर्ण स्वस्थ होने की गारंटी नहीं है। शरीर के साथ–साथ उसका मन भी स्वस्थ है या नहीं? सामाजिक और आध्यात्मिक रूप से वह कितना स्वस्थ है? ये सब पहलू भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अतः समग्र स्वास्थ्य की अवधारणा के कारण आज लोग शारीरिक स्वास्थ्य के साथ–साथ अपने मानसिक स्वास्थ्य के प्रति भी सजह हो रहे हैं। मन की क्षमता को कैसे बढ़ाया जा सकता है? यदि कोई मानसिक समस्या या बीमारी हो जाये तो उसे कैसे दूर किया जा सकता है? इत्यादि को जानना–समझना भी हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है। अतः मानसिक स्वास्थ्य के प्रतिबढ़ती हुयी इसी सजगता को ध्यान में रखते हुये इस इकाई में हम मनोरोग के अर्थ तथा सामान्य एवं असामान्य व्यवहार की विशेषताओं का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

8.2 उद्देश्य–

प्रिय विद्यार्थियों, प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

1. मनोरोग के अर्थ का वर्णन कर सकेंगे।
2. सामान्य व्यवहार की विशेषताओं को स्पष्ट कर सकेंगे।
3. असामान्य व्यवहार की विशेषताओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

8.3 मनोरोग का अर्थ–

प्रिय विद्यार्थियों, जैसा कि आप जानते हैं कि नैदानिक मनोविज्ञान एवं असामान्य मनोविज्ञान के अध्ययन की प्रमुख विषयवस्तु विभिन्न प्रकार के मनोरोग, उनके कारण, लक्षण, उपचार एवं सिद्धान्त से संबंधित है, किन्तु आपके मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो रही होगी कि आखिर 'मनोरोग' कहते किसे है? किस प्रकार की अवस्था को मनोरोग की संज्ञा दी जाती है? आपकी इसी जिज्ञासा का समाधान करने के लिये अब हम मनोरोग की अवधारणा का अध्ययन करते हैं।

प्रिय पाठकों, जिस प्रकार व्यक्ति विभिन्न प्रकार के शारीरिक रोगों से ग्रस्त रहता है, उसी प्रकार वह अनेक प्रकार के मनोरोगों से भी ग्रसित रहता है और ये मनोरोग शारीरिक रोगों की तुलना में व्यक्ति, परिवार तथा समाज के लिये अधिक कष्टकारी होते है। अब प्रश्न यह उठता है कि मनोरोग क्या है? व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य में ऐसे क्या परिवर्तन आते हैं कि वह मनोरोगी कहलाने लगता है? यदि हम मनोरोग की अवधारणा पर व्यापक ढंग से विचार करें तो यह तथ्य सामने आता है कि मनोरोग या मानसिक बीमारी वातावरण के साथ किया गया कुसमायोजित व्यवहार (Maladaptive behaviour) है। दूसरे शब्दों में हम कहें तो जब व्यक्ति मनोरोग से ग्रस्त होता है तो उसकी समायोजन क्षमता अत्यधिक घट जाती है। वह अपने आन्तरिक और बाह्य दोनों ही वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने में स्वयं को असमर्थ पाता है। मनोरोग एक असंतुलित मनोदशा की अवस्था है, जिसमें व्यक्ति का व्यवहार सामाजिक रूप से अनुकूली नहीं होता है और न ही सामान्य प्रत्याशाओं के अनुकूल होता है। सांवेदिक रूप से भी वह एक मान्य व्यवहार बनाये रखने में समर्थ नहीं होता है। अतः उसमें नैदानिक हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक **कोमर** के मतानुसार **चारडी** (Four D'S) के द्वारा मनोरोग के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। ये चार डी निम्नलिखित हैं–

1. **विचलन (Deviance)**
2. **तकलीफ (Distress)**
3. **दुष्क्रिया (Dysfunetion)**

4. **खतरा (Danger)**

(1) विचलन–

मनोरोग की स्थिति में व्यक्ति का व्यवहार असामान्य हो जाता है, जो सामाजिक मानकों के अनुकूल नहीं होता है। इसे ही विचलन की संज्ञा दी गई है।

(2) तकलीफ–

मनोरोग की अवस्था में व्यक्ति का व्यवहार ऐसा हो जाता है, जो स्वयं उसके लिये अत्यन्त–दुःखदायी बन जाता है।

(3) दुष्क्रिया–

मानसिक बीमारी की स्थिति में रोगी के शरीर या मन का कोई हिस्सा उस तरह से कार्य नहीं कर रहा होता, जिस तरह से उसे कार्य करना चाहिये। इसके कारण व्यक्ति को अपने दिन–प्रतिदिन के कार्यों को करने में भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है और यह स्थिति व्यक्ति को इतना अधिक परेशान कर देती है कि वह साधारण सामाजिक परिस्थितियों और कार्यों में भी अपने आपकों पर्याप्त रूप से समायोजित नहीं कर पाता है।

(4) खतरा–

मनोरोग की स्थिति में व्यक्ति द्वारा किया जाना वाले व्यवहार स्वयं अपने लिये तो खतरनाक होता ही है, इसके साथ–साथ दूसरे लोगों के लिये भी खतरा ही उत्पन्न होता है। अनेक मनोरोग ऐसे होते हैं, जिनमें व्यक्ति का व्यवहार अत्यन्त हिंसात्मक हो जाता है। ऐसे लोग स्वयं को भी चोट पहुँचा सकते हैं और दूसरों को भी। इसके अतिरिक्त मनोरोगियों का व्यवहार गलत निर्णय, कुव्यवस्था, द्वेष इत्यादि से ग्रस्त होने के कारण भी खतरनाक होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनोरोग एक असंतुलित मनोदशा की अवस्था होती है, जिसमें व्यक्ति के शरीर या मन का कोई भाग उस ढंग से कार्य नहीं कर रहा होता है, जिस ढंग से सामान्य स्थिति में करता है और इसके कारण रोगी सामाजिक एवं सांवेगिक रूप से मान्य व्यवहार बनाये रखने में स्वयं को असमर्थ पाता है अर्थात उसका व्यवहार कुसमायोजी हो जाता है। अतः इस स्थिति से उत्पन्न भाव, विचार एवं व्यवहार व्यक्ति के लिये अत्यन्त दुःखदायी अथवा विघटनकारी होता है।

प्रिय पाठकों, मनोरोग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये मनोवैज्ञानिकों ने अनेक परिभाषायें दी है, जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नानुसार हैं–

डेविड मेंकानिक के अनुसार–

''मानसिक बीमारी एक तरह का विचलित व्यवहार है। इसकी उत्पत्ति तब होती है जब व्यक्ति की चिंतन प्रक्रियायें, भाव एवं व्यवहार सामान्य प्रत्याशाओं या अनुभवों से विचलित होता है तथा प्रभावित व्यक्ति या समाज के अन्य लोग इसे एक ऐसी समस्या के रूप में परिभाषित करते हैं, जिसमें नैदानिक हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है।''

(Mental health and mental illness. In Harwitz & Scheid (Eds): A Handbook for the study of mental health,1999,P.12)

DSM-IV (1994)- के अनुसार –

''DSM-IV में प्रत्येक मानसिक विकृति को एक नैदानिक रूप से सार्थक व्यवहारपरक या नैदानिक संलक्षण या पैटर्न जो व्यक्ति में उत्पन्न होता है, के रूप में समझा गया है और यह वर्तमान तकलीफ या अयोग्यता से संबंधित होता है। चाहे वर्तमान समय में व्यक्ति में व्यवहारपरक, मनोवैज्ञानिक या जैविक दुष्क्रिया की अभिव्यक्ति अवश्य माना जाता है। न तो कोई विचलित व्यवहार, (जैसे–राजनैतिक, धार्मिक या लैंगिक) और न ही व्यक्ति तथा समाज के बीच होने वाले संघर्ष को मानसिक रोग माना जा सकता है, अगर ऐसा विचलन या संघर्ष व्यक्ति में दुष्क्रिया का लक्षण न हो।''

(APA:DSM, 1994, XXI-XXII)

ब्राउन (1940) के अनुसार, ''मनोरोग सामान्य व्यवहार का ही अतिरंजित रूप अथवा विकृत रूप है।''

सामान्य एवं असामान्य व्यवहार की विशेषतायें–

सामान्य व्यवहार की विशेषतायें–

प्रिय पाठकों, जिस व्यक्ति का व्यवहार सामान्य होता है, उसमें निम्न विशेषतायें पायी जाती हैं–

1. सूझपूर्ण व्यवहार
2. सामाजिक समायोजन
3. सांवेगिक परिपक्वता
4. वास्तविकता से सम्पर्क
5. अपनी देखभाल
6. आत्म–मूल्यांकन
7. आत्म–सम्मान
8. आत्म–विश्वास
9. सुरक्षा का भाव
10. संतोषजनक संबंध बनाये रखने की क्षमता
11. अच्छा शारीरिक स्वास्थ्य
12. जिन्दगी का एक स्पष्ट सिद्धान्त
13. उत्पादी एवं खुश रहने की क्षमता
14. स्पष्ट जीवन लक्ष्य

इन सभी का विस्तृत विवेचन निम्नानुसार है–

1. **सूझपूर्ण व्यवहार–** सामान्य व्यक्ति का व्यवहार सूझपूर्ण होता है अर्थात उसे इस बात का भली–भाँति ज्ञान होता है कि वह क्या कर रहा है? क्यों कर रहा है? किन परिस्थितियों में उसे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये? उसके लिये क्या सही है? क्या गलत है? इत्यादि सभी बातों का ज्ञान उसको रहता है।
2. **सामाजिक समायोजन**– सामान्य व्यवहार की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता संतुलित सामाजिक समायोजन है। ऐसे लोग समाज की भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में अपने आपको पर्याप्त रूप से समायोजित कर लेता है। इसके साथ ही वे सामाजिक नियमों एवं रीति–रिवाजों का पालन भी करते हैं।
3. **सांवेगिक परिपक्वता–** सामान्य व्यक्ति सांवेगिक रूप से परिपक्व होते है। इनमें समय एवं परिस्थिति के अनुरूप अपने संवेग की अभिव्यक्ति पर पूर्ण नियंत्रण होता है। परिवेश के अनुरूप ही वे प्रेम, क्रोध, भय आदि संवेगों को अभिव्यक्त करता है। इनके भावनात्मक व्यवहार में स्थिरता पायी जाती है।
4. **वास्तविकता से सम्पर्क–** सामान्य व्यक्ति कल्पनाओं में न जीकर वास्तविकता के धरातल पर जीते हैं। इनका व्यवहार सामाजिक मानकों की वास्तविकता के अनुकूल होता है। इनका व्यवहार भ्रम, विभ्रम, व्यामोह से ग्रसित नहीं होता है।
5. **अपनी देखभाल–** सामान्य व्यक्ति अपनी देखभाल करने में सक्षम होते है। ये ऐसा कोई भी व्यवहार नहीं करने का प्रयास करते, जिससे उनके स्वास्थ्य की हानि हो। इस प्रकार सामान्य व्यक्ति अपनी देखभाल के लिये दूसरों पर निर्भर नहीं रहते हैं।
6. **आत्म–मूल्यांकन–** सामान्य व्यक्ति में आत्म–मूल्यांकन का भाव होता है। वह अपने गुण–दोषों, अच्छाई–बुराई का तट्स्थ होकर मूल्यांकन करता है।
7. **आत्म–सम्मान–** सामान्य व्यक्ति का व्यवहार आत्म–सम्मान से प्रेरित होता है। ऐसे व्यक्ति स्वयं को सम्मान देते है। अपने प्रति इनके मन में सकारात्मक छवि होती है। स्वयं की शारीरिक–मानसिक क्षमताओं के प्रति इनमें हीनता का भाव नहीं होता अपितु सम्मान एवं गर्व का भाव होता है।
8. **आत्म–विश्वास** आत्म–सम्मान के साथ–साथ ऐसे लोगों में आत्म–विश्वास की भावना भी होती है। इन्हें स्वयं की योग्यताओं पर भरोसा होता है। ये बिना किसी कारण के भय से ग्रस्त नहीं होते है।
9. **सुरक्षा का भाव–** सामान्य व्यक्ति स्वयं को सुरक्षित महसूस करता है। उसके मन में यह भावना होती है कि वह समाज का एक स्वीकृत एवं सम्मानित व्यक्ति हे। लोग उसके विचारों, भावनाओं का सम्मान करते हैं। अतः वह समाज के लोगों के साथ निर्भय होकर अन्तःक्रिया करते हैं।

10. **संतोषजनक संबंध बनाये रखने की क्षमता–** संतुलित सामाजिक समायोजन की क्षमता के कारण सामान्य व्यक्ति के दूसरों के साथ सम्बन्ध भी संतोषजनक रहते हैं। संबंधों को लम्बे समय तक और अच्छे ढंग से निभाने की सामर्थ्य इनके भीतर होती है।
11. **अच्छा शारीरिक स्वास्थ्य–** जिन व्यक्तियों का व्यवहार सामान्य होता है वे शारीरिक रूप से भी प्रायः स्वस्थ रहते हैं।
12. **जिन्दगी का एक स्पष्ट सिद्धान्त–** सामान्य व्यवहार वाले व्यक्तियों की जिन्दगी के कुछ आदर्श होते है, उनकी जिन्दगी के कुछ स्पष्ट सिद्धान्त होते है, जिनके अनुसार उनका व्यवहार संचालित होता है।
13. **उत्पादी एवं खुश रहने की क्षमता**– सामान्य व्यक्तियों का व्यवहार इस तरह का होता है जो उन्हें आन्तरिक प्रसन्नता प्रदान करता है तथा इसके साथ ही सामान्य व्यक्ति अपनी उर्जा को उत्पादी एवं सृजनात्मक कार्यों में लगाते हैं, जिसके कारण वे तनाव उत्पन्न करने वाले नकारात्मक विचारों से दूर रहते हैं।
14. **स्पष्ट जीवन लक्ष्य–** सामान्य व्यक्तियों का व्यवहार प्रायः अपने जीवन लक्ष्य से प्रेरित होता हैं। वे ऐसा व्यवहार करने का प्रयास करते हैं, जिससे कि वे अपने लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ सके।

प्रिय पाठकों, उपरोक्त विवरण से आप सामान्य व्यवहार की विशेषताओं को समझ गये होंगे।

असामान्य व्यवहार की विशेषतायें–

प्रिय पाठकों, सामान्य व्यवहार के समान ही असामान्य व्यवहार की भी कुद विशेषतायें है, जिनका विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है–

1. **समाज–विरोधी व्यवहार**
2. **मानसिक असंतुलन**
3. **अप्रर्याप्त समायोजन**
4. **सूझपूर्ण व्यवहार की कमी**
5. **विघटित व्यक्तित्व**
6. **आत्म–सम्मान का अभाव**
7. **आत्म–विश्वास की कमी**
8. **असुरक्षा की भावना**
9. **संवेगात्मक अपरिपक्वता**
10. **संतोषजनक सामाजिक संबंध न होना**
11. **तनाव एवं अतिसंवेदनशीलता**
12. **पश्चाताप का अनुभव न होना**
13. **काल्पनिक्ता एवं अवास्तविक्ता से ओत–प्रोत व्यवहार**
14. **अपनी देखभाल हेतु दूसरों पर निर्भर रहना**

इन सभी विशेषताओं का विस्तृत विवेचन निम्नानुसार है–

1. **समाज विरोधी व्यवहार**– असामान्य व्यवहार की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसका समाज–विरोधी होना है। ऐसा व्यवहार सामाजिक मानकों एवं मूल्यों के अनुरूप नहीं होता है। उदाहरण के तौर पर हत्या करना, चोरी करना इत्यादि। अतः कोई भी ऐसा व्यवहार जो असामाजिक होता है उसे असामान्य व्यवहार की संज्ञा दी जाती है।
2. **मानसिक असंतुलन–** असामान्य व्यवहार की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता मानसिक असंतुलन है अर्थात् जिन व्यक्तियों का व्यवहार सामान्य नहीं होता है वे मानसिक रूप से भी संतुलित नहीं होते हैं। ऐसे लोगों के विचारों एवं व्यवहारों में काफी असंगतता पायी जाती है अर्थात् ये सोचते कुछ और हैं और करते कुछ और है।
3. **अप्रर्याप्त समायोजन–** असामान्य व्यवहार वाले व्यक्तियों में पर्याप्त समायोजन की क्षमता नहीं होती है। ये नवीन परिवेश एवं परिस्थितियों में अपने आपकों समायोजित कर पाने में असक्षम होते हैं।

4. **सूझपूर्ण व्यवहार की कमी**– असामान्य व्यवहार सूझपूर्ण नहीं होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार का व्यवहार करने वाले व्यक्ति इस बात के प्रति सजग नहीं होते हैं कि वह अमुक परिस्थिति में अमुक व्यवहार क्यों और कैसे कर रहे हैं? उनके लिये अच्छा–बुरा, सही–गलत अथवा नैतिक–अनैतिक क्या है? उनके सामाजिक उत्तरदायित्व क्या है? इत्यादि। सूझपूर्ण व्यवहार की कमी होने से इनमें न तो किसी की आलोचना का भय होता है, और न ही सामाजिक एवं नैतिक नियमों की कोई परवाह।
5. **विघटित व्यक्तित्व–** असामान्य व्यवहार करने वाले व्यक्तियों का व्यक्तित्व अत्यन्त विघटित होता है। ऐसे लोगों के संवेगों, विचारों एवं व्यवहारों में कोई सामंजस्य या तालमेल नहीं होता। इनका व्यक्तित्व किसी एक दिशा में, किसी एक लक्ष्य के लिये केन्द्रीभूत नहीं होता वरन् इनका व्यक्तित्व बंटा हुआ, बिखरा हुआ रहता है।
6. **आत्म–समान का अभाव**– असामान्य व्यवहार करने वाले व्यक्तियों में स्वयं के प्रति सम्मान का भाव नहीं होता है। ये लोग खुद को हीनता एवं अनादर की दृष्टि से देखते हैं। ये इस बात का अनुभव ही नहीं कर पाते कि इनके भीतर कोई खास गुण या अनुपम विशेषता है, जो भगवान् ने इन्हें प्रदान की हैं तथा जो दूसरे लोगों में नहीं है। इस प्रकार असामान्य व्यवहार करने वाले लोग आत्महीनता से भी ग्रस्त रहते हैं।
7. **आत्म–विश्वास की कमी**– आत्म–सम्मान की कमी होने के कारण ऐसे लोगों में आत्म–विश्वास का भाव भी विकसित नहीं हो पाता, जिसके कारण वे जीवन की विषम परिस्थितियों, चुनौतियों का डटकर मुकाबला नहीं कर पाते हैं, उनसे जल्दी घबरा जाते हैं। इस प्रकार आत्म–विश्वास की कमी असामान्य व्यवहार की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।
8. **असुरक्षा की भावना**– असामान्य व्यवहार करने वाले व्यक्तियों में असुरक्षा का भाव भी अत्यन्त प्रबल होता है। ये स्वयं का समाज का एक स्वीकृत सदस्य नहीं मानते है, जिसके कारण ये दूसरे लोगों के साथ खुल कर अन्तःक्रिया नहीं कर पाते और नहीं विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों अवसरों पर अपने विचारों को खुलकर अभिव्यक्त नहीं कर पाते हैं।
9. **संवेगात्मक अपरिपक्वता**– असामान्य व्यवहार वाले लोग सांवेगिक रूप से अपरिपक्व होते है। अतः ये स्वयं को सांवेगिक रूप से समायोजित नहीं कर पाते है। इनका अपने संवेग पर नियंत्रण नहीं होता है। अतः अकारण रो देना या अकारण हंस देना इनकी आदत सी बन जाती हैं समय परिस्थिति के अनुसार अपने संवेगों को नियंत्रित करके उनकी उचित अभिव्यक्ति करना इन्हें नहीं आता है। अतः स्पष्ट है कि असामान्य व्यवहार वाले लोगों में संवेगात्मक समायोजन का भी अभाव पाया जाता है।
10. **संतोषजनक सामाजिक संबंध न होना–** अपर्याप्त सामाजिक समायोजन तथा सांवेगिक अपरिपक्वता के कारण असामान्य व्यवहार वाले लोग अपने आस–पास के लोगों के साथ संबंध भी अच्छे नहीं बना पाते हैं। ऐसे लोगों के संबंध अपने परिवारजनों के साथ भी संतोषजनक नहीं होते हैं।
11. **तनाव एवं अति संवेदनशीलता**– असामान्य व्यवहार वाले व्यक्ति प्रायः तनावग्रस्त रहते है और छोटी–छोटी बातों और घटनाओं को लेकर अत्यधिक बैचेन एवं परेशान हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि असामान्य व्यक्तियों का व्यवहार अत्यधिक तनावपूर्ण एवं संवेदनशील होता है।
12. **पश्चाताप का अनुभव न होना–** असामान्य व्यवहार करने वाले व्यक्तियों को अपनी गलती का अहसास नहीं होता। उन्हें यह लगता ही नहीं है कि उन्होंने कोई गलत कार्य किया है। अतः उसे ठीक करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार स्पष्ट है कि असामान्य व्यक्तियों को अपने गलत कार्यों के लिये पश्चाताप का अनुभव नहीं होता है और वे बेहिचक गलत कार्यों को करते जाते हैं।
13. **काल्पनिकता एवं अवास्तविकता से ओत–प्रोत व्यवहार**– असामान्य व्यवहार करने वाले लोगों का वास्तविकता से कोई सम्पर्क नहीं होता है। ये लोग अपने ही कल्पना जगत् में खोये रहते हैं। अतः इनका व्यवहार काल्पनिकता एवं अवास्तविकता से ओत–प्रोत रहता है।
14. **अपनी देखभाल हेतु दूसरों पर निर्भर रहना**– असामान्य व्यक्तियों का व्यवहार अपनी देखभाल एवं सुरक्षा के लिये पर्याप्त नहीं होता है। अतः इनकी देखभाल एवं सुरक्षा का कार्यभार इनके परिवार के लोगों या समाज के दूसरे लोगों को ही वहन करना पड़ता है। इस प्रकार अपनी देखभाल में असक्षम होने के कारण ये सामज पर भारस्वरूप बन जाते हैं।

8.6 सारांश

प्रिय पाठकों, उपरोक्त विवरण से आप समझ गये होंगे कि मनोरोग एक असंतुलित मनोदशा की स्थिति होती है, जिसमें व्यक्ति की समायोजन क्षमता सर्वाधिक प्रभावित होती है। परिणामस्वरूप व्यक्ति सामाजिक रूप से मान्य व्यवहार नहीं कर पाता है और उसके संवेग, विचारों और व्यवहारों में उचित तालमेल नहीं बैठ पाता है। मनोरोग की स्थिति में व्यक्ति द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, मनोवैज्ञानिकों ने उसे असामान्य सामान्य की संज्ञा दी है और मानसिक रूप से स्वस्थ रहने पर व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला व्यवहार सामान्य व्यवहार कहलाता है। आत्मज्ञान, आत्म–सम्मान, आत्मविश्वास, वास्तविकता से सर्म्पक, सांवेगिक परिपक्वता, प्रर्याप्त समायोजन क्षमता अपनी देखभाल करने में समर्थ होना इत्यादि विशेषतायें सामान्य व्यवहार की हैं और इसके विपरीत विशेषतायें असामान्य व्यवहार में पायी जाती है–जैसे सूझ या आत्मज्ञान का अभाव, आत्म–सम्मान एवं आत्मविश्वास का अभाव, काल्पनिकता, सांवेगिक अपरिपक्वता इत्यादि।

(अभ्यासर्थ प्रश्न)

(सत्य/असत्य)

1. मनोरोग की स्थिति में व्यक्ति का व्यवहार सूझपूर्ण होता है। (सत्य/असत्य)
2. दुष्क्रिया असामान्य व्यवहार का एक प्रमुख लक्षण है। (सत्य/असत्य)
3. मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति का सम्पक काल्पनिकता से होता है। (सत्य/असत्य)
4. संतोषजनक संबंध सामान्य व्यवहार की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। (सत्य/ असत्य)
5. असामान्य व्यवहार सामाजिक मानकों के अनुरूप होता है। (सत्य/असत्य)

8.7 शब्दावली

APA – American psychiatuic Association (अमेरिकन मनश्चिकीत्सीय संघ)

DSM- IV – असामान्य व्यवहारों का अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण तंत्र (Diagnostic and statistical Manual of mental disarder-IV)

आत्म–सम्मान – स्वयं के प्रति आदर का भाव

सूझपूर्ण व्यवहार – अपने व्यवहार के प्रति सजग रहना।

समायोजनशीलता – परिस्थिति–परिवेश के अनुरूप स्वयं को ढालने की क्षमता।

सांवेगिक परिपक्वता – अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति पर नियंत्रण एवं दूसरे की भावनाओं को समझने एवं अनुभव करने की क्षमता।

8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(सत्य/असत्य)

1. असत्य 2 सत्य 3 असत्य 4 सत्य 5 असत्य

8.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अरूण कुमार सिंह (2010), असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लोरोड, जवाहरनगर, दिल्ली।

8.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. असामान्य मनोविज्ञान–डॉ. आर. के. ओझा, (1991), भार्गव बुक हाउस, आगरा।

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न 1– मनोरोग से आप क्या समझते है? सामान्य एवं असामान्य व्यवहार की प्रमुख विशेषतायें बताइये।

इकाई–9 मनोरोगों के प्रकार, कारण, असामान्य व्यवहारों का नैदानिक वर्गीकरण

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 मनोरोगों के प्रकार
9.4 मनोरोगों के कारण
9.5 असामान्य व्यवहारों का नैदानिक वर्गीकरण
9.6 सारांश
9.7 शब्दावली
9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.10 सहायक उपयोगी पाठ्य–सामग्री
9.11 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना –

प्रिय पाठकों इससे पूर्व की इकाइयों में आपने असामान्य मनोविज्ञान के इतिहास, मनोरोगों के अर्थ तथा सामान्य एवं असामान्य व्यवहार के स्वरूप का विस्तार से अध्ययन किया है। प्रस्तुत इकाई में इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुये मनोरोगों के प्रकार, कारण एवं असामान्य व्यवहारों के नैदानिक वर्गीकरण का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है।

पाठकों, मनोरोग का अर्थ जानने के बाद मन में सहज ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि मानसिक रोग किस – किस तरह के हो सकते है अर्थात् मनोरोगों के कितने प्रकार है ? इनकी उत्पत्ति में किन – किन कारकों का योगदान होता है ? यदि किसी व्यक्ति में कोई असामान्य व्यवहार दिखलायी दे तो इस बात का निर्धारण किस आधार पर किया जाये कि उसे, अमुक मनोरोग है ? इन सभी जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत इकाई में करने का प्रयास किया गया है।

9.2 उद्देश्य –

प्रिय विद्यार्थियों, इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

1. मनोरोगों के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट कर सकेंगे।
2. मनोरोगों के कारणों का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. असामान्य व्यवहारों के नैदानिक वर्गीकरण को स्पष्ट कर सकेंगे।

9.3 मनोरोगों के प्रकार –

मनोचिकित्सा विज्ञान में मनोरोगों का वर्गीकरण करना अत्यधिक भिन्न तथ्यों अथवा लक्षणों को एक कोटि में लाने का प्रयास है। वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य एक ही प्रकार के चिकित्सकीय लक्षणों वाले रोगियों के समूह की पहचान करना है। जिससे उनके उपचार की एक उपयुक्त योजना बनाई जा सकें और इसके सम्भावित परिणाम की व्याख्या की जा सके। मनोचिकित्सा विज्ञान में व्याधि एवं बीमारी जैसे दो समान सम्बन्धित प्रत्ययों के लिये सामाजिक एवं व्यवहारिक प्रतिमान के अपेक्षा चिकित्साशास्त्र के प्रतिमान (medical model) का समर्थन किया गया है।

अधिकतर शारीरिक स्थितियों को हेतुकी एवं संरचात्मक विकृति के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ सामान्य चिकित्सकीय स्थितियों जैसे **माइग्रेन,ट्राईजेमिनल न्यूरालजिया** को अभी तक इस प्रकार से वर्गीकृत नहीं किया जा सका है, जिसके कारण उनका वर्गीकरण केवल लक्षणों के आधार पर ही किया गया है। मानसिक विकार मुख्य रूप से इस दूसरे प्रकार की स्थिति के समान ही है। यद्यपि कुछ मनोरोगों में शारीरिक हेतुकी को माना गया है किन्तु अधिकांश का वर्गीकरण केवल लक्षणों के आधार पर ही किया जा सकता है। कुछ प्रमुख मनोरोगों के प्रकार जो DSM - TR में संलग्न है, वो इस प्रकार है –

(Ansiety Disorder) चिन्ता विकार –

चिन्ता को काफी लम्बे समय से कई मनोरोगों के लक्षण के रूप में पहचाना जाता है। सर्वप्रथम **फ्रायडा** (1895) ने कहा कि ऐसे मामले जिसमें मुख्य रूप से चिन्ता के ही लक्षण हों,

फ्रायड के चिन्ता मनःस्ताप में भीतियों (Phobia) एवं संत्रास (panic attack) को सम्मिलित किया गया है परन्तु उन्होंने इसे दो भाग में बाँटा है – प्रथम, जिसे चिन्ता मनःस्ताप का नाम दिया गया है जिसमें मुख्यतः मानसिक लक्षण वाली घटनाएँ थी, दूसरा उसको जिसे चिन्ता हिस्टीरिया का नाम दिया गया, जिसमें चिन्ता के शारीरिक लक्षण वाली घटनायें थी। फ्रायड का मानना था कि चिन्ता विकार एवं चिन्ता हिस्टीरिया लैंगिक अन्तर्द्वन्द के कारण होते है।

चिन्ता मनोरोग एक ऐसी असामान्य स्थिति है, जिसमें मुख्य रूप से चिन्ता के मानसिक एवं शारीरिक लक्षणों की प्रधानता होती है। इन लक्षणों की उत्पत्ति किसी आंगिक मस्तिष्क रोग व अन्य मनोरोगों के कारण से नहीं होता है। DSM IV में चिन्ता मनोराग का तात्पर्य ऐसे विकार से लगाया गया है जिसमें रोगी में अवास्तविक चिन्ता एवं अतार्किक डर की मात्रा इतनी अधिक होती है कि उससे उसके सामान्य जीवन का व्यवहार प्रतिकूलित हो जाता है।

चिन्ता विकृति के प्रकार –

DSM IV TR (2000) में चिन्ता विकृति के निम्न छः प्रकार बताये गये हैं –

1. **दुर्भीति** (Phobias)
2. **भीषिका विकृति** (Panic disorder)
3. **सामान्यीकृत चिन्ता विकृति** (Generalized anxiety disorder or GAD)
4. **मनोग्रस्ति बाध्यता विकृति** (Obsessive – Compulsive disorder or OCD)
5. **उप्तर आघातीय तनाव विकृति** (Post - traunatic stress disorder or PTSD)
6. **तीव्र तनाव विकृति** (Active stress disorder)

देहरूपी विकार (Somataform Disorder) –

देह का अर्थ शरीर होता है और देहरूपी विकारों में चिन्ता पर आधारित मनस्तापी प्रतिदर्श होते है जिसमें व्यक्ति कई प्रकार के शारीरिक लक्षणों को प्रस्तुत करता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे उस व्यक्ति को शारीरिक समस्या है परन्तु इन लक्षणों अथवा समस्याओं का काई अंगिक आधार नहीं मिलता है।

देहरूपी विकारों की मुख्य विशेषता विभिन्न शारीरिक लक्षणों को बार – बार प्रस्तुत किया जाना है परन्तु किसी प्रकार की जाँच एवं परीक्षणों पर भी उनका कोई शारीरिक आधार नहीं मिलता है। मुख्य रूप से देहरूपी विकार निम्न प्रकार के होते है–

1. **दैहिकीकरण विकार (Somatization Disorder)**
2. **रोग भ्रमी विकार (Hypochondrial Disorder)**
3. **देहरूपी स्वचालित अकार्यता (Somataform Otonomic Dusfunction)**
4. **पीड़ा विकार (Pain Disorder)**
5. **शरीर दुष्क्रिया आकृति विकार (Body Dysmorphic Disorder)**

1. **दैहिकीकरण विकार (Somatization Disorder)** – इस विकार में अनेकानेक पुनरावर्तक एवं बारम्बार परिवर्तनशील शारीरिक लक्षण , रोगी में पूर्व कई वर्षो से विद्यमान होता है। दैहिकीकरण विकार में कम से कम आठ तरह के लक्षण निश्चित रूप से होते है जो इस प्रकार है –

- **चार तरह के दर्द के लक्षण –** इसमें दर्द सिर, पेट, पीठ, छाती, पेशाब करने के दौरान, मासिक धर्म के दौरान, लैगिंक क्रिया के दौरान आदि में से किसी चार से सम्बद्ध हो सकता है।
- **दो आमाषयांत्र लक्षण –** कम से कम दो आमाशयांत्र (Gestrointestinal) लक्षण जैसे – मिचले, के, डायरिया, पेट फूलना आदि अवश्य हुए हों।
- **एक लौंगिक लक्षण –** इसमें कम से कम एक लैगिक लक्षण जैसे लैगिक तटस्थता (Sexual indefference) स्खलन समस्याएँ (Ejacalatory problem) अनियमित मासिक स्राव, मासिक स्राव में अत्यधिक रक्त निकलना आदि अवश्य हुए हो।
- **एक कूटस्नायविक लक्षण –** कम से कम एक कूटस्नायविक (pseudoneuroligical) लक्षण जैसे अंधापन द्विदृष्टि, बहरापन, स्पर्श संवेदना की कमी, विभ्रम, पक्षाघात, कंठ में दर्द या खाते समय निगलने में कठिनाई आदि अवश्य हुए हो।

2. **रोगभ्रमी विकार –** इस विकृति में व्यक्ति अपने स्वास्थ्य के बारे में जरूरत से ज्यादा सोचता है तथा उसके बारे में चिंता करता है। उसके मन में अक्सर यह घात बनी रहती है कि उसे कोई न कोई शारीरिक व्याधि या बिमारी हो गई है औ उसकी यह चिंता इतनी अधिक हो जाती है कि वह अपने दिन प्रतिदिन की जिंदगी के साथ समायोजन करने में असमर्थ रहता है। DSM IV (IR) की कसौटी के अनुसार इस तरह की चिंता व्यक्ति में कम से कम छः महीने तक बने रहने पर ही उसे रोगीभ्रम विकार की श्रेणी में रखा जा सकता है अन्यथा नहीं। इस विकृति में रोगी की शिकायत किसी एक अंग विशेष तक सीमित नहीं रहती है। कभी – कभी उन्हें लगाता है कि पेट में भयानक रोग हो गया है तो कभी – कभी उनके सिर में गड़बड़ी नजर आती है। इसी तरह से उन्हें अपने यौन अंगों

में किसी ढंग का शारीरिक रोग होने की खौफनाक चिंता होती है। जब ऐसे रोगियों से उनके लक्षण के बारे में विस्तृत रूप से पूछ – ताछ की जाती हैं। तो वे उसकी सही–सही वर्णन करने में असमर्थ रहते है। मेडिकल परीक्षण से जब यह बात स्पष्ट हो जाती हे कि वास्तव में उनकी आशंकाएँ निराधार है तो भी उन्हें यह विश्वास नहीं होता है कि उनमें कोई रोग नहीं है। बल्कि वे मेडिकल परीक्षणों में कुछ कमी रह जाने की बात करते है।

आधुनिक अध्ययनों से यह पता चला है कि यह रोग महिलाओं एवं पुरूषां में लगभग समान ढंग से होता है।

3. **पीड़ा विकार** – इस विकृति में रोगी गंभीर या स्थायी तौर पर दर्द का अनुभव करता है जबकि इस तरह के दर्द कोई दैहिक आधार (Physical basis) नहीं होता है। इस तरह का दर्द प्रायः हृदय या अन्य महत्वपूर्ण अंगों के क्षेत्र में सम्बद्ध होता हे। गहन मेडिकल जाँव में ऐसे रोगियों के दर्द का कोई भी स्पष्ट आधार व विकृति नहीं मिलती है। सामान्यतः इस तरह के दर्द की उत्पत्ति का सम्बन्ध किसी प्रकार के संघर्ष या तनाव से होता है या जब व्यक्ति किसी दुखद परिस्थिति से छुटकारा पाना चाहता है या अन्य लोगों की सहानुभूति या ध्यान को अपनी ओर खींचना चाहता है, तो इस तरह को दर्द व्यक्ति में उत्पन्न होते देखा गया है। मनश्चिकित्सकों का मत है कि इस रोग के निदान में काफी दिक्कत इसलिए होती है क्योंकि दर्द एक पूर्णतः आत्मनिष्ठ अनुभूति है जो मनोवैशानिक रूप से प्रभावित होने वाली घटना है। अतः यह पहचान करना मुश्किल हो जाता है कि व्यक्ति में हाने वाला दर्द का स्वरूप कायप्रारूप (Somatoform) है या वह वास्तविक दर्द है।
4. **शरीर दुष्क्रिया आकृति विकार** – इस विकृति में रोगी को अपने चेहरे में कुछ कल्पित दोष (Imagined defect) उत्पन्न हो जाने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। जैसे सम्भव है कि रोगी को यह विश्वास हो जाए कि उसके नाम का आकार दिनों दिन बढ़ा होता है या होता जा रहा है, या उसके ऊपरी होंठ ऊपर की दिशा में तथा निचली होंठ नीचे की दिशा में लटकता जा रहा है। इस तरह के कल्पित दोष से वह इतना अधिक चिंतित रहता है कि उसके दिन प्रतिदिन के सामाजिक जिंदगी में काफी परेशानी आ जाती है और समायोजन सम्बद्ध समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है।

इस तरह की विकृति से संबद्ध कम शोध किये गये है। इस तरह की विकृति वाले अधिकतर रोगी यूरोपियन एवं एशियन देशों के मानसिक अस्पतालों में कुछ देखने को मिले है। अमेरिका में इस तरह के रोग न के बराबर देखे गए है। यही कारण है कि कई मनश्चिकित्सकों में इस बात पर मतभेद है कि इसे कायप्रारूप विकृति (Somatoform disorder) का एक स्वतंत्र प्रकार माना जाए या नहीं।

मनोविच्छेदी विकृतियाँ (Dissociative disorder) – मनोविच्छेदीविकृति एक महत्वपूर्ण एवं सामान्य मानसिक रोग है जिसमें रोगी के मानसिक प्रक्रियाएँ विशेषकर स्मृति या चेतना जो समन्वित रहता है, विच्छेदित हो जाता है। इसमें स्मृति का कुछ क्षेत्र चेतन से विच्छेदित होकर अलग हो जाता है जिससे व्यक्ति अपने आप को तथा वातावरण को भिन्न ढंग से प्रत्यक्षण करने लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनोविच्छेदी विकृति का सबसे प्रमुख लक्षण विच्छेदन है। विच्छेदन की अनुभूति में अन्य बातों के अलावा निम्नांकित तरह की अनुभूतियाँ अधिक होती है –

(1) स्मृतिलोप (Amnesia) – स्मृतिलोप में रोगी अपने पूर्व अनुभूतियों का आंशिक या पूर्णरूपेण प्रत्याह्वन (Crecall) करने में असमर्थ रहता है।

(2) व्यक्तित्वलोप (Depersonalization) – इसमें रोगी को पूरा वातावरण ही अवास्तविक एवं अविश्वसनीय लगता है।

(3) पहचान संभ्राति /आत्मविस्मृति (Identify confusion) – इसमें रोगी को अपने बारे में यह संभ्राति उत्पन्न होती है कि वह कौन है, क्या है, आदि।

(4) पहचान बदलाव – इसमें रागी कभी – कभी कुछ आश्चर्य उत्पन्न करने वाले कौशलों से अपने को लैश पाता है। रोगी को आश्चर्य इसलिए होता है कि उसे पता भी नहीं रहता है कि उसमें ऐसा कौशल है। जैसे सम्भव है कभी – कभी रोग विदेशी भाषा में कुछ ऐसे शब्दों का उपयोग करके अपने सम्भाषण को आकर्षक बना देता है कि उसे आश्चर्य होने लगता है।

मनोविच्छेदी विकृति के प्रकार (Types of Dissociative Disorder) –

मनोविच्छेदी विकृति (Dissociative Disorder) के कई तरह के प्रकार बतलाये गये हैं, जिनमें निम्नांकित चार प्रमुख है –

1. **मनोविच्छेदी स्मृतिलोप** (Dissociative Amnesia)
2. **मनोविच्छेदी आत्मविस्मृति** (Dissociative Fugue)
3. **मनोविच्छेदी पहचान विकृति** (Dissociative Identify Disorder)
4. **व्यक्तित्वलोप विकृति** (Depersonalization Disorder)

- **मनोविच्छेदी स्मृतिलोप** (Dissociative Amnesia) – इस रोग में व्यक्ति अपने ऐसे अनुभवों का प्रत्याह्वान पूर्णतः या अंशतः नहीं कर पाता है, जो तनाव उत्पन्न करने वाला होता है या जो मानसिक आघात उत्पन्न किये होते है। स्मृतिलोप के अनेक प्रकार होते है, जिनमें निम्न प्रमुख है।
  1. **पश्चगामी स्मृतिलोप** (Retrogracle Amensia)
  2. **उत्तर अघातीय स्मृतिलोप** (Post traumatic amnesia)
  3. **अग्रगामी स्मृतिलोप** (Anterograde amnesia)
  4. **चयनात्मक या श्रेणीबद्ध स्मृतिलोप** (Selective of categorical amnesia)
  5. **सामान्यीकृत स्मृतिलोप** (Generalized amnesia)
  6. **सतत स्मृतिलोप** (Continuous amnesia)
  7. **क्रमबद्ध स्मृतिलोप** (Systemized amnesia)
- **मनोविच्छेदी आत्मविस्मृति (Dissociative Fugue) –**

इसे पहले मनोजनिक आत्म विस्मृति (psychogenic Fugue) कहा जाता था। इसमें व्यक्ति में स्मृतिलोप (amnesia) के लक्षण तो होते ही है। साथ ही साथ वह अपने घर या सामान्य निवास स्थान छोड़कर एवं अप्रत्याशित ढंग से दूर चला जाता है और वह वहाँ नया काम, नया नाम, बताकर एक नयी जिन्दगी की शुरूआत करता है। कई दिन, महीना तथा कभी –कभी साल बीत जाने के बाद फिर रोगी अचानक अपने आप को नये जगह में पाकर आश्चर्यचकित रह जाता है और फिर वह नयी जिन्दगी के बारे में सब कुछ भूल जाता है। उसे यह भी समझ में नहीं आता कि वह किस तरह यहाँ आता था और क्यों आता था।

अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि सामान्य जनसंख्या का करीब 0.2 प्रतिशत लोगों में ही इस तरह का रोग पाया जाता है। स्पष्टतः तब इस तरह के रोग का प्रचलन काफी कम है।

- **मनोविच्छेदी पहचान विकृति (Dissociative Identify Disorder)-**
- इस रोग को पहले बहुत्यक्तित्व विकृति (Multipli Personality Disorder) कहा जाता था। DID में एक ही व्यक्ति में दो या दो से अधिक भिन्न व्यक्तित्व अवस्थाएँ पायी जाती है। प्रत्येक अवस्था अपने आप में सवंगात्मक एवं भावात्मक दृष्टिकोण से काफी सुसज्जित एवं संगठित होते है और प्रत्येक व्यक्तित्व तंत्र का अपना – अपना अलग विचार एवं संज्ञान (Cognition) होता है। व्यक्ति एक व्यक्तित्व अवस्था में कुछ समय (जैसे कुछ महीना या साल) एक रहकर फिर अपने आप दूसरे व्यक्तित्व अवस्था में चला जाता है। एक व्यक्तित्व अवस्था व्यक्तित्व अवस्था में नाटकीय ढंग से भिन्न होता है। जैसे व्यक्ति एक व्यक्तित्व अवस्था में कुछ मजाकिया, चिंतामुक्त व्यवहार कर सकतता है तो दूसरी अवस्था में वह किसी गंभीर, शान्त एवं चिन्तायुक्त व्यक्ति समान व्यवहार कर सकता है। वैसी आवश्यकताएँ एवं व्यवहार जो मुख्य व्यक्तित्व में अवरूद्ध एवं दबी होती है, वे अन्य व्यक्तित्व अवस्थाओं में विशेष रूप से अभिव्यक्ति होती हे। इसे पहले **भूतबाधा** आदि के रूप में प्रत्यक्षण किया जाता था।
- **व्यक्तित्व विकृतियाँ (Personality Disorders)-**

व्यक्तित्व विकृति किसी तनावपूर्ण परिस्थिति (Stress Situation) के प्रति एक प्रतिक्रिया नहीं होती है जैसा कि हम Adjustment disorder में पाते है न ही वह चिंता के प्रति एक तरह का अपरिपक्व व्यक्तित्व विकास का प्रतिफल होता है। इा तरह की व्यक्तित्व विकृतियों के लक्षण किशोरावस्था तक स्पष्ट हो जाते है जो वयस्कावस्था में भी मौजूद रहते है।

व्यक्तित्व विकृति मूलतः शीलगुणों की विकृति है। दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व विकृति वैसा विकृति है, जो पर्यावरण को कुसमायोजित ढंग से प्रत्यक्षण करने तथा उसके प्रति अनुक्रिया करने की प्रवृत्ति की ओर इशारा करता है।

- **व्यक्तित्वलोप विकृति (Depersonalization Disorder)-** इसमेंव्यक्ति का आत्मन् का प्रत्यक्षण अथवा अनुभव इस हद तक बदला रहता है कि उससे पृथकता का भाव उत्पन्न होता है। व्यक्ति स्वयं को यंत्र के समान चलने वाला प्राणी मानने लगता है। उसे लगता है कि वह स्वप्न की दुनिया में विचरण कर रहा है और वह स्वयं की ही मानसिक तथा शारीरिक प्रक्रियाओं का एक बाहरी प्रेक्षक बनकर उनका निरीक्षण कर रहा है। इस रोग में व्यक्ति को संवेदी भ्रामक, भावात्मक अनुक्रियाओं की कमी, अपनी की क्रियाओं पर नियंत्रण न होने का भाव आदि होते देखा गया है। इस प्रकार के रोगियों में सम्मोहनशीलता का गुण अधिक पाया जाता है।

व्यक्तित्व विकृति के प्रकार (Types of personality disorder)-

DSM – IV (TR) जो मनोरोग के वर्गीकरण की नवीनतक सर्वमान्य अमेरिकतन पद्धति है, के अनुसार व्यक्तित्व विकार के निम्न 10 प्रकार है –

1. **स्थिर व्यामोही व्यक्तित्व विकृति**
2. **स्किजोआयड व्यक्तित्व विकृति**
3. **स्किजाटाइपल व्यक्तित्व विकृति**
4. **हिस्ट्रीओनिक व्यक्तित्व विकृति**
5. **आत्ममोही व्यक्तित्व विकृति**
6. **समाज विरोधी व्यक्तित्व विकृति**
7. **सीमान्तरेखीय व्यक्तित्व विकृति**
8. **परिवर्जित व्यक्तित्व विकृति**
9. **अवलम्बित व्यक्तित्व विकृति**
10. **मनोग्रस्ति बाध्यता व्यक्तित्व विकृति ।**

मनोदशा विकृतियाँ एवं आत्महत्या (Mood disorder and suicide) – मनोदशा विकृति जैसा नाम से ही स्पष्ट है, एक ऐसी मानसिक विकृति है जिसमें व्यक्ति के भाव, संवेग एवं संबधित मानसिक दशाओं में इतना उतार – चढ़ाव होता है कि वह अपने दिन प्रतिदिन के जवन में समायोजन का सामान्य स्तर बना कर नहीं रख पाता है और उसकी सामाजिक एवं पेशेवर जिंदगी में तरह – तरह की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। इस तरह की मानसिक विकृति में व्यक्ति की मनोदशा में कमी तो विषाद देखा जाता है ताक कभी विषाद एवं सुखाभास दोनों ही कभी – कभी बारी – बारी से होते देखा जाता है। चाहे मानसिक अवस्था विषाद का हो या सुखाभास का, रोग का समायोजन बुरी तरह प्रभावित हो जाता है और व्यक्ति को चिकित्सा देना अनिवार्य हो जाता है।

मनोदषा विकृति के प्रकार (Types of mood disorder) – DSM – IV-TR में तीन तरह के मनोदशा विकृति का उल्लेख किया गया है जो निम्नांकित है –

1. **विषादी विकार –** इसे एकध्रवीय भी कहा जाता है और इसका मुख्य लक्षण व्यक्ति में उदासी एवं विषाद का होना है। इसके अतिरिक्त इसमें भूख – नींद एवं शारीरिक वनज में कमी होते पायी जाती है और व्यक्ति का संक्रियण स्तर काफी कम जाता है। विषादी विकृति को फिर दो भागों में बॉटा गया है –

(क) डायस्थाइमिक विकृति (Dysthymic Disorder) – इस विकृति में विषादी मनोदशा का स्वरूप चिरकालिक होता है अर्थात् गत कई वर्षो से व्यक्ति की मनोदशा विषादी होती है। व्यक्ति को गत् कई

वर्षो से किसी भी चीज में अभिरूची, आनन्द की कमी का अनुभव करता है। बीच में कुछ दिनों के लिए उसकी मनोदशा भले ही सामान्य हो जाय परन्तु विषादी मनोदशा की प्रबलता सतत बनी रहती हे।

(ख) बड़ा विषादी विकृति (Major depressive disorder) – इस विकृति में व्यक्ति एक या एक से अधिक बड़े विषादी घटनाओं का अनुभव किया होता है। व्यक्ति प्रत्येक चीज में अपनी अभिरूचि खो चुका होता है तथा उसे कोई कार्य में मन नहीं लगता है। ऐसे व्यक्तियों में नींद की कमी, शारीरिक वनज की कमी, थकान, स्पष्ट रूप से सोचने की क्षमता में कमी, बेकार एवं अयोग्य होने का भाव, आत्महत्या की प्रवृत्ति आदि अधिक होती है। इस विकृत में श्रेणीकृत होने के लिए वह आवश्यक है कि ऐसे लक्षण कम–से–कम गत दो सप्ताह से अवश्य हो रहे है।

1. **द्विध्रुवीय (Bipolar) विकृति** – द्विध्रुवीय विकृति वैसी विकृति को कहा जाता है जिसमें व्यक्ति या रोगी में बारी – बारी से विषाद तथा उन्माद दोनों ही तरह की अवस्थाएँ होती पायी जाती है। यही कारण है कि इसे उन्मादी – विषाद विकृति भी कहा जाता है। DSM IV (TR) में द्विध्रुवीय विकृति में निम्नांकित तीन प्रकार बतलाये गये है –

- **साइक्लोथाइमिक विकृति (cyclothymic disorder)** – dysthmic disorder के समान cyclothymic disorder में भी मनोदशा में चिरकालिक क्षुब्धता पायी जाती हैं। इसमें विषादी व्यवहार तथा अल्पोन्माद व्यवहार दोनों ही पाये जाते है परन्तु इन दोनों में से किसी की भी गंभीरता ऐसी नहीं कि यह द्वारा निर्धारित कसौटी को छू सकें। ऐसे व्यवहारों का इतिहास निश्चित रूप से कम से कम दो वर्ष पुराना अवश्य होता है।
- **द्विध्रुवीय एक विकृति (Bipolar Ipisorder)** –जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, वैसी मानसिक विकृति होती है जिसमें रोगी या व्यक्ति एक या एक से अधिक उन्माद की घटना तथा एक या एक से अधिक विषाद की घटना की अनुभूति अवश्य किया होता है। **गुडविन तथा जैमिसन के** अनुसार Bipaler I disorder के बहुत कम रोगी ऐसे भी होते है जो एक या एक से अधिक बार उन्मादी अवस्थ का अनुभव किये हो किन्तु उन्हें कभी भी विषादी लक्षण का अनुभव नहीं हुआ हो।
- **द्विध्रुवीय दो विकृति** (Bipolar II disorder) – इसमें रोगी को कम से कम एक अल्पोन्मादी मानसिक अवस्था का अनुभव तथा कम से कम एक या एक से अधिक विषादी मानसिक अवस्थाओं का अनुभव हो चुका होता है। इसके रागी को कभी उन्मादी मानसिक अवस्था का अनुभव नहीं होता है। अल्मोन्मादी अवस्था एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति की मनोदशा थोड़ी देर के लिए बढ़ी – चढ़ी होती है। तथा उनमें चिढ़चिढ़ापन जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। द्विध्रुवीय एक विकृति तथा द्विध्रुवीय दो विकृति के मुख्य अंतर यह है कि द्विध्रुवीय दो विकृति में उन्मादी व्यवहार की गंभीरता कम होती है जबकि द्विध्रुवीय एक विकृति में उन्मादी व्यवहार व्यक्ति अधिक गंभीर मात्रा में दिखाता है।

2. **अन्य मनोदशा विकार (Other mood disorder)** – इस श्रेणी में वैसी मनोदशा विकृतियों को रखा गया है जो दैहिक एवं मानसिक विकृतियों से उत्पन्न हो जाते है। जैसे क्लिंटन के अध्ययन के अनुसार प्रत्येक 10 मुख्य विषादी में से एक का कारण मनोवैज्ञानिक या सांवेगिक न होकर कोई मेडिकल बिमारी जैसे– **कैंसर, मधुमेह, हृदय** आघात आदि या कुछ द्रव्य दुरूपयोग (substance abuse) या अन्य विकृतियों के उपचार के लिए लिया जाने वाला औषध आदि होता है।

मनोविदालिता या सिजोफ्रेनिया –

सिजोफ्रेनिया एक गंभीर मानोरोग है। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति को सामान्यतः पागल कहा जाता है। यह चिन्तन एवं क्षुब्ध मनोदशा की विकृति है। इस रोग में व्यक्ति में गलत प्रत्यक्षण तथा गलत विश्वास उत्पन्न हो जाता है तथा वास्तविकता को समझने में अनेकों कठिनाइयाँ होती है, तथा भाषा संबधित सांवेगिक अभिव्यक्ति में तालमेल करने में असमर्थता होती है। मनोविदालिता, मनोविक्षिप्तता विकृतियों का एक समूह है जिसमें चिंतन, संवेग तथा व्यवहार में अत्यधिक क्षुब्धता की विशेषता होती है। विकृत चिंतन जिसमें विचार तार्किक रूप से संबद्ध नहीं होते हैं, दोषपूर्ण प्रत्यक्षण एवं ध्यान होता है। यह रोगी

को अन्य लोगों एवं वास्तविकता से दूर करके उसे व्यामोह तथा विभ्रम के काल्पनिक दुनिया में ले जाता है।

मनोविदालिता के प्रकार – DSM (IV) (2000) के अनुसार **सिजोफ्रेनिया** के पाँच प्रमुख प्रकार है –

1. **विघटित मनोविदालिता**
2. **कैटेटोनिक मनोविदालिता**
3. **व्यामोही मनोविदालिता**
4. **मिश्रित मनोविदालिता**
5. **अवशिष्ट मनोविदालिता**

1. **विघटित मनोविदालिता –** विघटित मनोविदालिता का मुख्य लक्षण संभ्राति (Confusion) संगतता (incoherence) तथा कुंठित प्रभाव (feat affect) आदि है। इस प्रकार में विभ्रम तथा व्यामोह विशेषकर लैंगिक, रोगभ्रमी (hypo chondrical) धार्मिक तथा दंडात्मक (persecutory) काफी होते है एवं घटियाा ढंग से संगठित होते है। रोगी में अपने शरीर से संबधित विचित्र विशेषकर शारीरिक ह्रास से संबधित विचार काफी आते है। विघटित मनोविछालिता के रोगी न तो अपनी देख–रेख ठीक ढंग से करते है और न ही इनका सामाजिक संबध ही उत्तम होता है।
2. **कैटेटोनिक मनोविदालिता –** इसमें पेशीय लक्षण (motor symptoms) बौद्धिक (Intellectual) तथा लक्षणों (emotional symptoms) से अधिक स्पष्ट होते है। सामान्यतः इस प्रकार के मनोविदालिता में तीन तरह की लाक्षणिक अवस्थाएँ होती है – एक अवस्था catatonic stupor का होता है जिसमें रोगी गतिहीन तथा अनुक्रियाहीन होने का लक्षण दिखलाता है। रोगी एक स्थिति में लम्बे समय तक चुपचाप सोता या खड़ा रहता है, वह किसी से बातचीत नहीं करना चाहता है तथा किसी के बात पर कोई ध्यान भी नहीं देता है। कभी – कभी वह सांकेतिक हाव – भाव, रूढ़िवादी गति तथा दृढ़ मनोवृत्ति भी दिखलाता है।
3. **व्यामोही मनोविदालिता –** मनोविदालिता के इस प्रकार का सबसे प्रमुख लक्षण व्यामोह तथा श्रव्य विभ्रम का एक क्रमबद्ध एवं संगठित तंत्र का होना है। व्यामोह में दंडात्मक व्यामोह (diliusion of persecuation) की प्रबलता होती है परन्तु इसके अतिरिक्त बड़प्पन का व्यामोह (diliusion of grendeour) , dilusion or reference भी पाया जाता है। जब ऐसे रोगियों के प्रत्यक्षण तथा चिंतन की सत्यता के बारे में दूसरों के द्वारा प्रश्न किया जाता है, तो उनके इस व्यामोही चिंतन व विभ्रमात्मक प्रत्यक्षणों के साथ–साथ उसमें क्रोध या चिंता भी उत्पन्न होती है। APA (1994) के अनुसार इसके विपरीत जिन रोगियों में बड़प्पन का व्यामोह अधिक होता है वे शांत एवं अकेले रहते है।
4. **मिश्रित मनोविदालिता –** इस श्रेणी में उस मानसिक रोगी को रखाा जाता है जिन्हें मनोविदालिता के रोगी के रूप में पहचान तो की जाती है किन्तु उसके मनोविदालिता के कोई स्पष्ट प्रकार में रखना संभव नहीं हो पाता है। जब रोगी में मनोविदालिता के लक्षण अचानक उत्पन्न होते है और लघु अवधि में ही वे दूर हो जाते है, तो उसे प्रखर मिश्रित मनोविदालिता (acute undifferentiated schizophrenia) कहा जाता है। परन्तु मनोविदालिता के रोग की शुरूआत क्रमिक (gradual) होती है और उसके लक्षण लम्बे समय तक बने रहते है, तो इसे चिरकालिक मिश्रित मनोविदालिता (chronic undifferentiated schizophrenia) कहा जाता है।
5. **अवशिष्ट मनोविदालिता –** इस श्रेणी में मनोविदालिता के उन रोगियों को रखा जाता है जो मनोविदालिता के सम्पूर्ण कसौटी पर तो खरे नहीं उतरते है परन्तु फिर भी उनमें मनोविदालिता के लक्षण दीख पड़ते है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के मनोविदालिता के भड़कीले लक्षण की संख्या तथा तीव्रता में तो कमी हो जाती है परन्तु फिर भी वे अवशिष्ट प्रारूप में बने रहते है। इसमें रोगी में भोथरें या अनुपयुक्त सांवेगिक प्रतिक्रिया, सामाजिक प्रत्याहार (Social withdraw) अनोखा व्यवहार (eccentric behavior) तथा कुछ आतार्किक चिंतन के लक्षण होते है। DSM IV (TR) (2000) के अनुसार इस प्रकार के मनोविदालिता के मुख्य लक्षण निम्न प्रकार है।

- स्पष्ट सामाजिक अलगाव
- समाजिक भूमिकाओं को करने में स्पष्ट दोष
- व्यक्तिगत स्वास्थ्य एवं देखभाल में गंभीर दोष
- अनुपयुक्त सांवेगिक अभिव्यक्ति
- अत्यन्त विचित्र व्यवहार
- असाधारण प्रत्यक्षज्ञानात्मक अनुभूतियाँ
- भावशून्यता अथवा पहल की कमी।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि मनोविदालिता के इस प्रकार में मनोविदालिता के प्रमुख लक्षण जैसे व्यामोह, विभ्रम, असंगतता तथा विघटित व्यवहार आदि तो अनुपस्थित रहते है किन्तु अन्य उपर्युक्त तरह के लक्षण उनमें दीखते है, जो निश्चित रूप से दुखदायी होते है।

व्यामोही विकृतियाँ या स्थिर व्यामोही विकृतियाँ – स्थिर व्यामोह (paranoia) से तात्पर्य एक वैसे मानसिक रोग से होता है जिसमें रोगी एक जटिल व्यामोह तंत्र विकसित कर लेता है परन्तु उसमें किसी प्रकार के विभ्रम (hallucination) भाषा तथा क्रिया–कलापों में गड़बड़ी तथा स्थिति भ्रान्ति आदि का कोई लक्षण नहीं होता है। स्पष्ट हुआ कि इस रोग में रोगी में व्यामोह तंत्र इतना जटिल (Complex) होता है कि उसके व्यवहार में असामान्यता तथा कुसायोजन (Maladjustment) स्पष्ट रूप से दिखते है। सुव्यवस्थित एवं स्थिर व्यामोह के अलावा इस तरह के रोगियों में और कोई भी लक्षण असामान्य नहीं होते है। DSM IV (TR) में इस रोग का नाम **व्यामोही विकृति** (delusional disorder) रखा गया है।

स्थिर व्यामोही विकृति के प्रकार – स्थिर व्यामोही विकृति के अनेक प्रकार बतलाये गए है, जिनमें निम्न प्रमुख है–

1. **दंडात्मक प्रकार (persecutory types)** –इस प्रकार की विकृति के रोगी में यह व्यामोह या गलत विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि दूसरे लोग उसके प्रति कुछ साजिश कर रहे है, उन्हें तकलीफ देने का प्लान तैयार कर रहे है। इस तरह के व्यक्तियों के प्रति क्रोध तथा अहिंसा दिखाते है जिन्हें वे यह समझते है कि वह उन्हें चोट पहुँचा रहा है।
2. **ईर्श्यालू प्रकार** (Jealous type) – इस प्रकार के रागी में गलत विश्वास उत्पन्न हो जाता है, कि उसका लैंगिक साथी (sexual partner) अविश्वासी (unfaithful) है इस तरह के गलत विश्वास का आधार छोटे–छोटे सबूतों के आधार पर लगाये गये गलत अनुमान होते है।
3. **कामोन्मादी प्रकार** (Erotomanic type) – इस प्रकार के रोगी को यह गलत विश्वास हो जाता है कि कुछ उच्च–स्तरीय व्यक्ति या सम्मानित व्यक्ति उसके साथ प्यार करते और उसके साथ लैंगिक संबध की इच्छा रखते है। कभी–कभी इसमें रोगी किसी अपरिचित व्यक्ति से रोमांस करने का विश्वास विकसित कर लेता है। नैदानिक प्रतिदर्श इस प्रकार के रोग अधिकतर महिलाओं में होते है।
4. **आडम्बरी प्रकार** (Complex) –इस प्रकार के रागी में यह गलत विश्वास हो जाता है कि उसमें कोई असाधारण या दिव्य सूझ या शक्ति या योग्यता है। उसे यह भी गलत विश्वास हो जाता है कि उसने कोई महत्वपूर्ण खोज किया है। ऐसे रोगी प्रायः यह भी कहते पाये जाते है कि उनका किसी बड़े राजनैतिक नेता से संबध है या ईश्वर के दूत है।
5. **शरीरिक प्रकार** (Sometic type) – इस प्रकार के रागी को यह गलत विश्वास हो जाता है कि उसमें काई ना कोई शारीरिक क्षुब्धता उत्पन्न हो गयी है। वह इस विचार से हमेशा अत्यधिक परेशान रहता है। Sometic dilusion के कई प्रकार होते है। इसमें सबसे सामान्य वह है जिसमें रोगी को यह गलत विश्वास हो जाता है कि उसकी त्वचा, मुँह,
6. **मिश्रित प्रकार** (Mixed type) – इस श्रेणी में स्थिर व्यामोह के किसी रोगी को तब रखा जाता है, जिन रोगियों में कोई एक तरह का व्यामोही विषय की प्रबलता नहीं होती है।

7. **अविशिष्ट प्रकार –** इस प्रकार के स्थिर व्यामोह के किसी रोगी को तब रखा जाता है जब उसका प्रबल व्यामोही विश्वास के बारे में यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि किस प्रकार है। जैसे मान लिया जाए कि कोई व्यक्ति में संदर्भ व्यामोह तो होता है परन्तु आडम्बरी या दंडात्मक तत्व न हो, तो यह नहीं कहा जा सकता है कि उसका व्यामोही विश्वास किस श्रेणी का है।

9.4 मनोरोगों के कारण –

मनोराग एक तरह का मानसिक पैटर्न या अनियमितता है, जो व्यक्ति के व्यवहार में शक्तिशाली रूप से परिलक्षित होता है तथा सामान्यतः कष्ट और विकृति से जुड़ा होता है, जिसे किसी भी संस्कृति में व्यक्ति का सामान्य विकास नहीं समझा जाता है।

सामान्यतः व्यक्ति किस प्रकार चिंतन, व्यवहार तथा प्रत्यक्षण करता है तथा उसके भीतर किसी तरह की भावनाएँ उत्पन्न होती है, इसके संयोग के रूप में भी मनोरोगों को परिभाषित किया जाता है यह विकृति सामाजिक संदर्भ में मस्तिष्क तथा तंत्रिका तंत्र की कार्य प्रणाली से संबधित है।

विष्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार – '' अधिकांश देशों में हर तीसरा व्यक्ति अपने जीवन में कुछ समस्याओं से पीड़ित होता है जो नैदानिक रूप से मनोरोगों के सामान्य प्रकारों से मिलते जुलते है।''

मनोरोगों के कारणों का वर्णन भिन्न – भिन्न रूपों में किया गया है तथा कुछ कारण अस्पष्ट है। असामान्यता के सिद्धान्त भी संयुक्त रूप से मनोरोगों के कारणों का वर्णन करते है, मनोरोगों के प्रमुख कारण निम्नलिखित है –

- **जैविक कारण –**

मनोरोगों का इतिहास यह सुनिश्चित करता है कि प्राचीन समय से ही मनोरोगों की उत्पत्ति में जैविक कारक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम **हिप्पोक्रेट्स** ने अपने विचार प्रस्तुत किये तथा यह बताया कि मनोरोग जैविक कारकों के कारण उत्पन्न होते है, **हिप्पोक्रेट्स** जिन्हें आधुनिक औषधीशास्त्र का जनमा कहा जाता है, अपनी पुस्तक ''**हिप्पोक्रेट्स कोरपस'' में** उल्लेख करते हैं कि मानसिक रोगों का उपचार अन्य रोगों की तरह ही किया जा सकता है। उनका मत था कि मनोरोग, मस्तिष्कीय विकृति तथा आनुवांशिक कारणों से भी उत्पन्न हो सकते है, **हिप्पोक्रेट्स** ने मस्तिष्क को विवेक बुद्धि तथा संवेगों के लिए उत्तरदायी माना। इसके अतिरिक्त उन्होंने मनोवैज्ञानिक तथा अंतःनिरीक्षण कारकों को भी मनोरोगों का कारण माना है।

हिप्पोक्रेट्स के पश्चात् रोमन **शरीरशास्त्री गैलेन ने हिप्पोक्रेट्स** के विचारों को आगे बढ़ाया तथा एक शक्तिशाली एवं प्रभावशाली सिद्धान्त का निर्माण किया जिसे Homoural theory of Disorder भी कहा जाता है। **हिप्पोक्रेट्स ने** यह विचार व्यक्त किया था कि हमारा मस्तिष्क सामान्य रूप से चार शारीरिक द्रवों या रसों से संबधित होते है– रक्त, वात, पित्त तथा कफ, शरीरशास्त्रियों का मत है कि इन द्रवों की अधिकता या कम होने से मानसिक रोग उत्पन्न होते है। उदाहरण स्वरूप – वात जिसे अंग्रेजी में Black bile के नाम से जाना जाता है जिसका अर्थ है Melancholer, जिससे अंग्रेजी के melancholy शब्द की उत्पत्ति मानी जाती है। यह शब्द समान्यतः डिप्रेशन की अवस्था की ओर संकेत करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा भी इस पद का उपयोग अनेक बार किया जाता है।

मनोरोगों के जैविक कारकों के अंतर्गत आनुवांशिकी तथा न्यूरोवैज्ञानिक की भूमिका का अध्ययन किया जाता हे। मनोरोगों की उत्पत्ति में मनुष्य के जीन्स महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। **मैक्क्लर्न 1997 के अनुसार** मनुष्य अपनी संपूर्ण सामान्य संज्ञानात्मक क्षमता का 62 प्रतिशत आनुवांशिक रूप से प्राप्त करता है। इसी प्रकार **बाउचर्ड, 1990** ने बताया कि 30–50 प्रतिशत व्यक्तित्व कारक जैसे शर्मिलापन तथा कार्य करने की क्षमता आदि आनुवांशिक रूप से प्राप्त होती है।

मनारोगों के संदर्भ में देखा गया है कि आनुवांशिक कारक पूर्ण रूप से उत्पत्ति सहायक होते है। यदि एक जैसे जुड़वा बच्चों में से किसी एक को मनोविदलता रोग है तो दूसरे बच्चे को भी रोग होने की 50 प्रतिशत तक संभावना है। व्यवहारिक आनुवांशिकी वैज्ञानिकों का मत है कि केवल कोई एक जीन मनोरोग उत्पन्न नहीं करता, इसके अतिरिक्त **न्यूरोविज्ञान** के अनुसार हमारा तंत्रिक तंत्र तथा मस्तिष्क भी मनोरोगों को बढ़ावा देने में सहायक है। अनेक तरह के न्यूरोट्रासमीटर जैसे एसाइटलकोलाइन, जो

हमारी स्मृति को बनाये रखने तथा उसे नियंत्रित करने का कार्य करता है, इसी प्रकार अन्य न्यूरोट्रासमीटर भी अनेक कार्यो का संचालन करते है।
शोधकर्ताओं का यह भी मानना है कि मानसिक रोग अनेक बार अंतःस्त्रावी तंत्र के सही रूप से कार्य न करने के कारण भी उत्पन्न होते है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से निकलने वाले हार्मोन हमारे रक्त में मिलकर शरीर की अनेक क्रियाओं का संचालन करते है। उदाहरण स्वरूप – तनाव के समय एड्रीनल ग्रंथि कार्टिसोल नामक हार्मोन स्रावित करता है, यदि इसका स्तर बढ़ जाये तो यह दुश्चिंता तथा मूड डिसार्डर की उत्पत्ति का कारण बनता है।

- **मनोगत्यात्मक सिद्धान्त –**

मनोरोगों के कारणों की व्याख्या करने वाले प्राचीनतक तथा प्रसिद्ध सिद्धान्तों में से एक मनोगत्यात्मक सिद्धान्त है। मनोविश्लेषकों का विचार है कि व्यक्ति का व्यवहार चाहे वह सामान्य हो या असामान्य, अधिकाशंतः मनोवैज्ञानिक बलों द्वारा निर्धारित होता है, जिसका व्यक्ति को चेतनात्मक रूप से ज्ञान नहीं होता है। इन्हीं मनोवैज्ञानिक बलों को गत्यात्मक कहा गया है, जो एक दूसरे के साथ अन्तः क्रिया करते है जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति का व्यवहार विचार तथा संवेग उत्पन्न होते है। असामान्य व्यवहार इन बलों के बीच तनाव या द्वंद के फलस्वरूप उत्पन्न होता है।
मनोगत्यात्मक सिद्धान्त के अनुसार कोई भी व्यवहार आकस्मिक नहीं होता। व्यक्ति के सभी व्यवहार उसके पूर्व अनुभवों द्वारा निर्धारित होते है। मनोगत्यात्मक सिद्धान्त सर्वप्रथम न्यूरोवैज्ञानिक **सिगमण्ड फ्रायड** द्वारा दिया गया, फ्रायड का मत था कि तीन केन्द्रीय बल हमारे व्यक्तित्स को निर्धारित करते है। मूलप्रवृत्ति, इच्छाएँ, तर्कसंगत विचार, नैतिक मूल्य, ये सभी बल एवं शक्तियाँ अचेतन स्तर पर संचालित होती है। ये गत्यात्मक है तथा अंतः क्रियात्मक है। फ्रायड ने इन तीन शक्तियों को **इड, इगो तथा सुपर इगो** नाम दिया।

इड –

इड या उपाहं मूलप्रवृत्तियों प्रणोदों का स्रोत है जन्मजात होता है तथा जिसमें दो परस्पर विरोधी मूलप्रवृत्ति होती है–जीवन मूलप्रवृत्ति तथा मृत्यु मूलप्रवृत्ति में संरचनात्मक प्रणोद होते है तथा मूलतः उनका स्वरूप लैंगिक होता है, इसकी ऊर्जा को लिबिडो कहा जाता है। जीवन मूलप्रवृत्ति को **इरोस** भी कहा जाता है। मृत्यु मूलप्रवृत्ति से तात्पर्य विध्संसात्मक प्रणोद से होता है जिससे व्यक्ति में आक्रामकता, बर्बादी, मृत्यु आदि की ओर उन्मुखता होती है, उपाहं का स्वरूप स्वार्थपरायण होता है जो मूलप्रवृत्ति आवश्यकताओं के तुरंत संतुष्टि से संबद्ध होता है। यह आनन्द नियम द्वारा निर्देशित होता है। उपाह मात्र व्यक्ति के मन में मानसिक प्रतिमाएँ तथा इच्छा पूरक दिवास्वप्न उत्पन्न करता है, वह कोई ऐसा वास्तविक क्रियाएँ नहीं कर पाता है जिससे कि उसके मूल प्रवृत्तिक माँग की पूर्ति हो सके।

इगो –

इगो अथवा अहं व्यक्तित्व का दूसरा महत्वपूर्ण उपतंत्र है जिसका विकास उपहं के बाद होता है। जीवन के दूसरे छमाही में ही उपाहं के आवेगों से ही अहं का विकास होता है तथा अहं मूलतः चेतन होता है। यह प्राथमिक प्रक्रिया द्वारा नहीं बल्कि गौण प्रक्रिया द्वारा कार्य करता है।

सुपर इगो –

सुपर इगो अथवा पराहं व्यक्तित्व का तीसरा महत्वपूर्ण उपतंत्र है। प्रायः व्यक्तित्व का नैतिक कमांडर होता है जो सामाजिक मूल्यों एवं नैतिकता के आलोक में सही तथा गलत का निर्णय लेता है। इस तरह से पराहं नैतिकता के नियम द्वारा निर्देशित होता है। जैसे–जैसे पराहं विकार होता है व्यक्ति में आंतरिक नियंत्रण की शक्ति बढ़ते जाती है तथा व्यक्ति में उपाहं के अप्रतिबंधित इच्छाओं से निबटने की क्षमता बढ़ते जाती है। यह अह के माध्यम से भी कार्य करता है तथा अहं को अनैतिक इच्छाओं को कार्यरूप देने से रोकता है।
इसके अतिरिक्त **फ्रायड** ने कुछ मनोलैंगिक विकास की अवस्थाओं का वर्णन किया है जिनके माध्यम से व्यक्तित्व का विकास होता है। प्रत्येक अवस्था व्यक्ति के समक्ष एक खास तरह की माँग रखता है और उसमें एक तरह का मानसिक संघर्ष उत्पन्न करता है जिसे दूर या खत्म करना आवश्यक होता है। यदि किसी कारण से यह मानसिक संघर्ष समाप्त नहीं हो पाता तो उससे आगे चलकर असामान्य व्यवहार उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है। ये पाँच अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं –

1. मुखावस्था
2. गुदावस्था
3. लिंग प्रधानावस्था
4. अप्रगटावस्था
5. जनेन्द्रियावस्था

मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त में चिंता एक महत्वपूर्ण संप्रत्यय है जिसका असामान्य व्यवहार तथा मनोरोगों की उत्पत्ति से सीधा एवं प्रत्यक्ष संबध है। चिंता से तात्पर्य डर या आशंका से सामान्यीकृत भाव से है। यह सिद्धान्त सबसे पहले यह दिखा सकने में समर्थ हुआ कि मानव मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं में क्षुब्धता होने से मानसिकक रोगों की उत्पत्ति होती हैं असामान्य व्यवहार में अचेतन अभिप्रेरणा एवं अहं रक्षात्मक प्रक्रियाओं की गत्यात्मक भूमिका होती है।बाद के व्यक्तित्व समायोजन तथा कुसामायोजन में आरंभिक बाल्यावस्था की अनुभूतियों की अहम् भूमिका होती है यदि ऐसी अनुभूतियाँ अनुकूल हुई तो उससे बाद में व्यक्तित्व में समायोजन तथा यदि ऐसी अनुभूतियाँ प्रतिकूल हुई तो उससे बाद में व्यक्तित्व में कुसमायोजन विकसित होता है। मानव व्यवहार को विचलित करने में तथा मानसिक विकृति को उत्पन्न करने में लैंगिक इच्छाओं विशेषकर दमित लैंगिक इच्छाओं की अहम् भूमिका होती हैं। इस सिद्धानत के अनुसार कुछ मनोरोग तथा आसामान्य व्यवहार उस समय विकसित होते है जब व्यक्ति अत्यंत कठिन समस्याओं का समाधान का प्रयास करता है और ऐसा प्रयार और कुछ नहीं बल्कि सामान्य अहं रक्षात्मक प्रक्रमों का मात्र एक अतिरंजित प्रारूप होता है।

- **व्यवहार सिद्धान्त –**

असामान्य व्यवहार के स्वरूप की व्याख्या एवं उपचार करने के लिए व्यवहारवादी विचारधारा की उत्पत्ति मनोविज्ञान के एक महत्वपूर्ण स्कूल जिसे व्यवहारवाद कहा जाता है, से हुआ है। व्यवहारवाद के तीन महत्वपूर्ण पूर्वकल्पना है जो असामान्य मनोविज्ञान पर सीधे लागू होती है और मनोरोगों की उत्पत्ति में सहायक है, ये निम्नलिखित है –

पर्यावरणवाद – इसके अंतर्गत इस बात पर बल डाला गया है कि सभी प्राणी पर्यावरण द्वारा निर्धारित होते है। हम लोग अपने गत साहचर्यो के आधार पर भविष्य के बारे में सीखते है। यही कारण है कि हम लोगों का व्यवहार दंड तथा पुरस्कार द्वारा व्यवस्थित किया जाता है। पुरस्कृत व्यवहार को हम भविष्य में करना चाहते है तथा दंडित व्यवहार को नहीं करना चाहते है।

प्रयोगवाद – यह पूर्वकल्पना का संबध इस बात से है कि प्रयोग के माध्यम से यह पता लगाया जा सकता है कि पर्यावरण के किस पहलू से व्यवहार प्रभावित होता है तथा किस तरह हम उसे परिवर्तित कर सकते है। अगर पर्यावरण के महत्वपूर्ण तथ्य को रोक लिया जाता है, व्यवहार की वर्तमान विशेषता समाप्त हो जायेगी और यदि महत्वपूण्र तथ्य को पुनर्स्थापित कर दिया जाता है, तो व्यवहार को वर्तमान विशेषता पुनः वापस आ जाती है।

आशावाद – यह पूर्वकल्पना का संबध परिवर्तन से है। अगर व्यक्ति पर्यावरण का प्रतिफल है और अगर वातावरण का वह सब पहलू जो उसे परिवर्तित किया है, को प्रयोग द्वारा ज्ञात किया जा सकता है, तो पर्यावरण में कभी परिवर्तन होने से व्यक्ति में भी परिवर्तन होगा।

तीनों पर्वकल्पनाओं का उपयोग असामान्य व्यवहार की व्याख्या में प्रत्यक्ष रूप से की गयी है– पहला सामान्य तथा असामान्य व्यवहार को गत अनुभूति से सीखाा जाता है। जब व्यक्ति अपअनुकूलित अर्जित आदतों को सीख लेता है, तो उससे उसमें असामान्य व्यवहार की उत्पत्ति होती है। दूसरा – हम लोग प्रयोग करके यह निर्धारित कर सकते है कि पर्यावारण के किस पहलू से असामान्य व्यवहार की उत्पत्ति होती है। तीसरा – अगर हम लोग पर्यावरण के इन पहलुओं को परिवर्तित कर देते हैं, व्यक्ति अपने पुराने कुसमायोजी व्यवहार को त्याग देता है और उसके जगह पर नया, समायोजी व्यवहार सीख लेगा। व्यवहारवादी विचारधार के अनुसार कुसमायोजी व्यवहार मनोरोग या असामान्यता के दो मुख्य कारण होते है – व्यक्ति द्वारा समायोजी व्यवहार या निपुणता या संतोषजनक वैयक्तिक संबधों को विकसित करने की असफलता अप्रभावी या कुसमायोजी व्यवहार को सीखना, व्यवहार बाह्य तथा आंतरिक दोनों तरह के हो सकते है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति सीखे गये व्यवहारों का कुल योग है। यह सिद्धान्त मनोरोगों की उत्पत्ति में अधिगम की भूमिका पर प्रकाश डालता है, कई व्यवहार को दैनिक

जीवन सही रूप में व्यतीत करने के लिए सहयोग प्रदान करते है। इसी प्रकार असामान्य व्यवहार भी सीखे जा सकते है।

यह सिद्धान्त अनुबंध प्रक्रिया पर आधारित है। व्यवहारवादियों द्वारा अनेक तरह के अनुबंधनों की पहचान की है जो सामान्य तथा असामान्य व्यवहारों को उत्पन्न करते है। उदाहरण स्वरूप– साधनात्मक अनुबंधन – एक प्रक्रिया जिसमें प्राणी मुक्त अनुक्रिया परिस्थिति में रहकर किसी व्यवहार को सीखता है। इस तरह के अनुबंधन की एक खास विशेषता यह है कि प्राणी इसमें अनुक्रिया स्वयं करता है न कि कोई विशेष उद्दीपक द्वारा उत्तेजित होने पर करता है।

इसी प्रकार क्लासिकी अनुबंधन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा उद्दीपक तथा अनुक्रिया के बीच साहचर्य स्थापित होता है। इस अनुबंधन के प्रवर्तक पैवलव का निष्कर्ष था कि यदि तटस्थ अधीपक को किसी उपयुक्त एवं स्वाभाविक उधीपक के साथ बार–बार दिया जाता है तो तटस्थ उधीपक के प्रति व्यक्ति वैसी ही अनुक्रिया करना सीख लेता है जैसा कि वह उपयुक्त एवं स्वाभाविक उधीपक के प्रति करता है। अतः असामान्य व्यवहार भी इन अनुबंधनों द्वारा सीखे जा सकते है जो आगे चलकर मनोरोगों का रूप धारण कर लेते है। इस सिद्धान्त द्वारा असामान्यता के अध्ययन क्षेत्र में अब तक जितना शोध किया गया है, उतना किसी अन्य माडल या सिद्धान्त द्वारा नहीं किया गया है।

संज्ञानात्मक सिद्धान्त –

संज्ञानात्मक विचारधारा या सिद्धान्त व्यवहारवादी सिद्धान्त के प्रति एक प्रतिक्रिया तथा परिणाम से विकसित हुआ है। संज्ञान एक सामान्य पद है जिसके तहत प्रत्यक्षण, स्मृति, चिंतन, तर्कणा आदि प्रक्रियाओं को रखा जाता है। संज्ञान दो कारणों से महत्वपूर्ण है। अनेक मानसिक रोगों में गंभीर संज्ञानात्मक क्षुब्धताएँ पायी जाती है। जैसे गंभीर रूप से विषादी रोगी किसी कार्य पर एकाग्रता नहीं दिखा पाते है। उसी तरह मनाविदालित रोगी में गंभीर संज्ञानात्मक क्षुब्धताएँ पायी जाती है।

कुछ संज्ञानात्मक पैटर्नस संबधित मानसिक विकृतियों के केवल लक्षण नहीं बल्कि वास्तविक कारण होते है।

संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जो कुछ भी व्यक्ति सोचता है, विश्वास करता है, उम्मीद करता है तथा ध्यान देता है, उससे उसका व्यवहार प्रभावित होता है। जब ये सभी संज्ञानात्मक प्रक्रियाएँ दोषपूर्ण हो जाती है, तो उससे कुछ मनोवैज्ञानिम विकृतियाँ व्यक्ति में उत्पन्न हो जाती है और इन संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में परिवर्तन लाकर उनकी विकृतियों की गंभीरता को कम किया जा सकता है।

एलबर्ट इलिस, 1962 का विचार था कि बाह्य घटनाएँ व्यक्ति में मानसिक विकृति उत्पन्न नहीं करती बल्कि उन घटनाओं के प्रति व्यक्ति की अपनी प्रतिक्रिया जो अतर्कसंगत विश्वास के कारण होती है, से मानसिक विकृति उत्पन्न होती है, इलिस ने इस पूरी प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए **ए बी सी मॉडल** का प्रतिपादन किया है। ए से तात्पर्य बाह्य घटनाओं या उत्तेजनों से उत्पन्न अनुभूतियों से होता है जिसका स्वरूप अतर्क संगत होता है। बी से तात्पर्य उसके बाद उत्पन्न उस विश्वास से होता है जिसका स्वरूप अतर्कसंगत होता है तथा सी से तात्पर्य व्यक्ति के उसके परिणाम से होता है जो सांवेगिक एवं व्यवहारात्मक दोनों ही होता है, इस प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण पहलू जिससे मानव व्यवहार में कुसमायोजनशीलता आती है वह अतर्क संगत विश्वास है।

ऐरोन बैक, 1976 ने असामान्य व्यवहार की व्याख्या में संज्ञानात्मक विकृति को महत्वपूर्ण बतलाया है। इनका मत है कि कुछ विशेष तरह के संज्ञानात्मक विकृति से विभिन्न तरह के मानसिक या मनोवैज्ञानिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। इन संज्ञानात्मक विकृतियों तीन प्रमुख है –

अतिरंजन –

इस विकृति में व्यक्ति एक छोटी एवं साधारण घटना को बहुत ज्यादा महत्व देकर उसके बारे में सोचता है।

अतिसामान्यीकरण –

इस विकृति में साधारण एवं हल्का सबूत के आधार पर व्यक्ति बड़ा निष्कर्ष निकाल लेता है।

चयनात्मक अमूर्तिकरण –

इस तरह की विकृति में व्यक्ति सिर्फ कुछ विशेष तरह के सबूतों पर ध्यान देता है तथा समान रूप से अन्य महत्वपूर्ण सबूतों की उपेक्षा करता है संज्ञानात्मक सिद्धान्त के अनुसार असामान्य व्यवहार की व्याख्या में तीन कारकों की अहम् भूमिका है –

1. संज्ञानात्मक मूल्यांकन
2. आत्म पुनर्बलन
3. सूचना संसाधन

संज्ञानात्मक मॉडल में व्यक्ति के मानसिक विकृति को संज्ञान अर्थात् उसके चिन्तन, विश्वास आदि के रूप में विश्लेषित किया गया है। जिसका समर्थन विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के शोधों से प्रत्यक्ष रूप से किया गया है। संज्ञानात्मक सिद्धान्त की एक विशेषता यह है कि इस सिद्धान्त में इस बात की व्याख्या होती है कि व्यक्ति अपनी अनुभूतियों को किस ढंग से पुर्नचिता करता है, कैसे उसका विशेष अर्थ निकालता है और पर्यावरणी उधीपकों को वे उस ढंग की सूचना में बदल देता है जिसका उपयोग किया जा सके। इससे असामान्यता तथा कुसमायोजन की व्याख्या तो होती है साथ ही साथ यह भी पता चल पाता है कि इसमें व्यक्ति के आंतरिक अनुभूतियों का कितना योगदान है।

- **मानवतावदी अस्तित्ववादी सिद्धान्त –**

मानवतावदी अस्तित्वात्मक सिद्धान्त मनोगतिकी सिद्धान्त के प्रति एक प्रतिक्रिया तथा परिणाम दोनों ही है, इस सिद्धान्त के अंतर्गत मनोरोग की व्याख्या करने में कुछ पूर्वकल्पनाओं को महत्वपूर्ण बतलाया है जिसमें निम्नलिखित प्रमुख है –

व्यक्ति का अनोखापन – चूँकि प्रत्येक व्यक्ति संसार को विभिन्न ढंग से प्रत्यक्षण करता है तथा अपने आत्म–निर्माण में विशेष ढंग से भाग लेता है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग का अनोखा होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को व्यवहारवादी या मनोगति की सूत्रों के बंधन में बाँधना, उसके अस्तित्व के एक सीमित पहलू पर ही प्रकाश डालने के सामान है।

मानव अंतः शक्ति – मानवतावदी – अस्तित्ववादी सिद्धान्त में मानव अंतःशक्ति को महत्वपूर्ण माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव जीवन अनुभव के द्वारा वर्द्धित होता है। इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में वह बनने की क्षमता होती है, जो वह चाहता है।

स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व – मनुष्यों में आत्मचेतना का गुण होता है। यह गुण उन्हें इस बात की स्वतंत्रता प्रदान करता है कि वे अपने अस्तित्व के लिए अनेकों उपलब्ध साधन में से किसे चुनेंगे। ऐसा करके वे अपने भाग्य का निर्माता स्वयं होते हैं। इस तरह के व्यक्ति अपने भाग्य, अच्छा या बुरा, का मालिक स्वयं होता है।

परिघटनात्मक विधि – मानवतावादी अस्तित्ववपदी सिद्धान्त में परिघटनात्मक विधि को महत्वपूर्ण माना जाता है तथा व्यक्ति के व्यवहारों को समझाने के लिए इसे सबसे उपयुक्त समझा जाता है। इस विधि का सार तत्व यह है कि किसी व्यक्ति के व्यवहार को पूर्णरूपेण समझने के लिए यह आवश्यक है कि दुनिकया को उस व्यक्ति की आँखों से देखा जाए, अतः प्रेक्षण किये गए व्यक्ति के विचार को जानकर की उसके व्यवहार को समझा जा सकता है अन्यथा नहीं।

मानवतावादी–अस्तित्ववादी विचारधारा को अब सुविधा के लिए मानवतावादी व्याख्या तथा अस्तित्ववादी व्याख्या दो भागों में बाँटकर वर्णन किया जा रहा है।

कार्ल रोजर्स का मत है कि व्यक्ति का प्रत्येक व्यवहार एक ही अभिप्रेरणा से नियंत्रित होता है जिसे वस्तुवादी प्रवृत्ति कहा जाता है, वस्तुवादी प्रवृत्ति से तात्पर्य अपने आप को सुरक्षित रखते हुए आगे बढ़ाने की इच्छा से होती है। इसके एक स्तर पर तो व्यक्ति सिर्फ अपने आप को जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए जीवित रखता है तो उच्च स्तर पर इस वस्तुवादी प्रवृत्ति में व्यक्ति को अपनी इच्छा एवं अभिप्रेरणाओं की जाँच करने तथा अपनी क्षमताओं तथा अंतःशक्ति को पूरा करने की प्रवृत्ति भी सम्मिलित होती है। व्यक्ति द्वारा अपने अंतःशक्ति को जाँच ने तथा उसे पूरा करने की प्रक्रिया को आत्म सिद्धि की संज्ञा दी जाती है। यदि व्यक्ति के बचपन की कुछ अनुभूतियाँ ऐसी होती है जिनसे उसकी आत्मसिद्धि के मार्ग में बाधा पहुँचती है और व्यक्ति वास्तविकता से अलग हो जाता है, तो उससे व्यक्ति में असामान्य अथवा मनोरोग उत्पन्न हो जाता है।

अस्तित्ववादी व्याख्या –

अस्तित्ववादी व्याख्या में संसार में होने अर्थात व्यक्ति का संसार के साथ संबद्धता तथा अन्य लोगों के साथ उनकी सतत् अनुक्रिया को महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें सच्चे में रहने के लिए अपने नियमों के अनुसार संघर्ष करने की क्षमता पर भी बल डाला जाता है। जब व्यक्ति इस तरह की सतत् अनुक्रिया तथा क्षमता में अपने आप को सक्षम नहीं पाता है तो इससे उसमें अपवर्तन की स्थिति उत्पन्न होती है जो एक तरह का आध्यात्मिक मृत्यु के समान होता है जिसमें व्यक्ति को अपनी जिंदगी में अर्थहीनता दिखाई देती है और वह मृत्यु के अवश्यंभावी से काफी डरने लगता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि उसमें मानसिक विकृति या असामान्यता विकसित हो जाती है।
इस सिद्धान्त में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अनुभूति को पर्याप्त महत्व दिया जाता है जिसके कारण इस सिद्धानत में उन लोगों के लिए आंतरिक आकर्षकता काफी अधिक होती है जो इस पर ध्यान दिये होते है।

- **सामाजिक – सांस्कृतिक सिद्धान्त –**

सामाजिक सांस्कृतिक सिद्धान्त में असामान्य व्यवहार तथा मनोरोगों की व्याख्या सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण के पड़ने वाले प्रभावों के रूप में की जाती है। कुछ सामाजिक कारक जैसे गरीबी, विभेद तथा निरक्षरता का स्पष्ट प्रभाव मानसिक विकृति तथा मनोरोगों पर पड़ता देखा गया है। सामाजिक सांस्कृतिक कारकों का व्यक्तित्व पर पड़ने वाले कुसमायोजी प्रभाव को दिखलाने के लिए प्रयोगात्मक साक्ष्य की कमी है क्योंकि ऐसी परिस्थितियों के साथ नियंत्रित प्रयोग करना कठिन है।
सामाजिक सांस्कृतिक मॉडल को निम्नांकित तीन उपसिद्धानतों में वर्गीकृत किया गया है जिनके अनुसार मनोरोग तथा असामान्य व्यवहार की व्याख्या की गई है।

सामाजीककरण मॉडल –

इस मॉडल अथवा सिद्धान्त के अनुसार असामान्यता की व्याख्या दोषपूर्ण समाजीकरण के कारण होता है। समाजीकरण सामाजिक सीखना की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा यह निर्धारित होता है कि व्यक्ति सामाजिक मानक के अनुसार किस तरह के व्यवहार करता है तथा सोचता है। समाजीकरण की यह प्रक्रिया माता – पिता की गलत मनोवृतियों, बच्चों की पालन–पोषण की दोषपूर्ण पद्धति, परिवार में मानसिक रोग से ग्रसित सदस्यों के व्यवहारों आदि से सबसे अधिक प्रभावित होती है। समाजीकरण सिद्धान्त के अनुसार समाज वैज्ञानिक द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया है कि निम्नांकित तीन प्रमुख ऐसे कारक हैं, जिनसे व्यक्ति में असामान्य व्यवहार की उत्पत्ति होती है –

- माता पिता की विकृत मनोवृत्तियाँ
- बच्चों के पालन – पोषण की प्रणाली
- परिवार विकृति

सामाजिक विघटन सिद्धान्त

सामाजिक विघटन सिद्धान्त असामान्य व्यवहार तथा मनोरोगों की व्याख्या सामान्य सामाजिक विकृति के रूप में करता है और इस तरह से यह मॉडल समाजीकरण मॉडल से भिन्न है जहाँ असामान्य व्यवहार की व्याख्या किसी परिवार के विशष सामाजिक विकास में उत्पन्न गड़बड़ी के रूप में किया जाता है। सामाजिक विघटन सिद्धान्त के अनुसार असामान्य व्यवहार की उत्पत्ति तब होती है जब पूरे समाज में एक तरह की विकृति कुछ खास – खास कारकों जैसे सांस्कृतिक विघटन, शहरी विकृति, उच्च व्यक्तिगत एवं सामाजिक गतिशीलता, सामाजिक एवं आर्थिक बंधन तथा अन्य संबधित कारकों से उत्पन्न होती है। असामान्य व्यवहार की उत्पत्ति में इन कारकों की भूमिका निम्नांकित रूप से उल्लेखित की जाती है –

- **सांस्कृतिक विघटन**
- **गतिशीलता एवं प्रवसन**
- **सामाजिक एवं आर्थिक बंधन**

- **सांस्कृतिक विघटन –**

सांस्कृतिक सिद्धान्त के अनुसार असामान्यता या मनोरोगों की व्याख्या सांस्कृतिक एवं सामाजिक मानक के रूप में की जाती है न कि किसी प्रकार के सामाजिक विकृति के रूप में। इस सिद्धान्त के अनुसार कौन व्यवहार असामान्य कहलायेगा, इसका निर्धारण संस्कृति द्वारा किया जाजा है। मानवशास्त्रियो एवं मनोवैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे अध्ययन किये है जिनसे यह पता चलता है कि कुछ खास – खास ऐसी संस्कृति है जिनके व्यवहार संबधी मानकों एवं आदतों में विचित्रता होने से वहाँ के लोगों में मनोरोग उत्पन्न होते है।

सांस्कृतिक सिद्धान्त के अनुसार असामान्य व्यवहार मूलतः संस्कृति के व्यवहार संबधी प्रक्रियाओं, आदतों आदि के रूप में समझा जाता है और चूँकि एक संस्कृति की ऐसी प्रक्रियाएँ एवं आदतों आदि के रूप में समझा जाता है। इसलिए एक संस्कृति से दूसरे संस्कृति में पाये जाने वाले असामान्य व्यवहारों में भी भिन्नता होती है। परन्तु भिन्न – भिन्न संस्कृतियों में किये गये क्षेत्र अध्ययनों से स्पष्टतः इस बात का प्रमाण मिलता है कि असामान्य व्यवहार का स्वरूप भिन्न–भिन्न संस्कृतियों में भिन्न–भिन्न न होकर करीब–करीब समान होता है।

- **डायथिसिस– तनाव सिद्धान्त –**

असामान्य व्यवहार की व्याख्या करने का यह ऐसा सिद्धान्त है जो जैविक, मनोवैज्ञानिक तथा पर्यावरणी कारकों को एक सतह पर लाता है और कोई विशेष स्कूल या विचारधारा जैसे मनोगतिकी, संज्ञानात्मक या व्यवहारवादी विचारधारा से संबद्ध नहीं होता है। यह सिद्धान्त असामान्य व्यवहार की व्याख्या डायथिसिस तथा तनाव के अन्तःक्रिया के रूप में करता है। डायथिसिस से तात्पर्य किसी विकृति या असामान्य व्यवहार व्यक्ति में उत्पन्न होने के पूर्ववृत्ति से होता है। तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति में किसी विशेष तरह की मानसिक विकृति होने की पूर्ववृत्ति होती है और यदि वह व्यक्ति प्रर्यावरणी कारक अर्थात् विशेष तनाव की स्थिति से गुजरता है और यदि तनाव की मात्रा उसके नियंत्रण सीमा से बाहर हो जाता है, तो उस व्यक्ति में संबद्ध मानसिक विकृति के उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है। इसे ही मनोवैज्ञानियों एवं मनश्चिकित्सकों ने डायथिसिस – तनाव सिद्धान्त की संज्ञा दी है।

किसी मानसिक विकृति या असामान्य व्यवहार के लिये पूर्ववृत्ति होने से व्यक्ति में विकृति या असामान्यता के होने की संभावना काफी बढ़ जाती है। परन्तु इस बात की कोई गारंटी नहीं कि उस व्यक्ति में अमुक मनोरोग या विकृति होगी ही । इसका कारण यह है कि मॉडल का एक दूसरा भाग तनाव है जो इस बात का निर्धारण करता है कि संबद्ध पूर्ववृत्ति किस तरह से वास्तविक विकृति में रूपांतरित होगी। सामान्यतः इस संदर्भ में यहाँ तनाव है, जो इस बात का निर्धारण करता है कि संबद्ध पूर्ववृत्ति में रूपांतरित होगी, सामान्यतः इस संदर्भ में यहाँ तनाव से तात्पर्य कुछ ऐसे अनिष्टकर या दुःखद पर्यावरणी उद्दीपक से होती है जिसका स्वरूप या तो जैविक या मनोवैज्ञानिक कुछ भी हो सकता है। डायथिसिस–तनाव मॉडल का सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि किसी मानसिक विकृति या असामान्यता के उत्पन्न होने के लिए डायथिसिस तथा तनाव दोनों का होना अनिवार्य है, जैसे कुछ लोगों मे मनोविदालिता जैसे मनोरोग का एक जैविक पूर्ववृत्ति होता है, ऐसे लोगों को यदि जिंदगी में तनाव से होकर गुजरना पड़ता है तो उसमें मनोविदालिता का रोग उत्पन्न होने की उम्मीद उस व्यक्ति की तुलना में अधिक होती है। जिसमें ऐसी जैविक पूर्ववृत्ति नहीं पायी जाती है, परन्तु वैसे तनाव से होकर गुजरना पड़ता है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि डायथिसिस–तनाव मॉडल में असामान्यता की पूर्ववृत्ति तथा तनाव दोनों के अंतःक्रिया का परिणाम माना गया है। दोनों में से कोई अकेले मानसिक रोग पैदा करने में सक्षम नहीं होता है।

- **गतिशीलता एवं प्रवसन**
- **सामाजिक एवं आर्थिक बंधन**

9.5 - असामान्य व्यवहारों का नैदानिक वर्गीकरण

प्रिय विद्यार्थियों, असामान्य या कुसमायोजी व्यवहार को वर्गीकृत करना नैदानिक मनोवैज्ञानिकों और मनश्चिकित्सकों के लिये एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है, क्योंकि निदान पर ही रोग के उपचार की प्रक्रिया निर्भर करती है। पाठकों, आपके मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो रही होगी कि यहाँ वर्गीकरण से क्या अभिप्राय है? असामान्य व्यवहारों के नैदानिक वर्गीकरण का अर्थ उन्हें विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत करने से है, जिससे उन व्यवहारों का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो सके और उन्हें ठीक ढंग से समझा जा सके। श्रेणीकरण करने की यह विधि निदान कहलाती है। निदान को परिभाषित करते हुये सेलिमैन तथा रोजनेहान ने कहा है, ''व्यवहारपरक एवं मनोवैज्ञानिक पैटर्न के अनुसार मनोवैज्ञानिक विकृतियों का श्रेणीकरण ही निदान कहलाता है। (Abnormality, 1998, P.117)

पाठकों, जब निदान के लिये मनोवैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता है तो इसे **मनोनिदान** (Psycholiagnosis) कहते है। असामान्य व्यवहारों के नैदानिक वर्गीकरण की आवश्यकता के अनेक कारण हैं, जिनमें से प्रमुख का विवेचन निम्नानुसार हैं–

1. निदान एक संचार–न्यूनता प्रदान करता है।
2. निदान पर उपचार की प्रक्रिया निर्भर करती है।
3. निदान से रोग के कारण समझने में सहायता मिलती है।
4. निदान से वैज्ञानिक अनुसंधान में सहायता मिलती है।
5. निदान तीसरे पार्टी के भुगतान करने में मदद करता है।

इन सभी का विस्तुत वर्णन निम्नानुसार है–

1. **निदान एक संचार–न्यूनता प्रदान करता है–** निदान के महत्व को बताते हुये मनश्चिकित्सकों का कहना है कि निदान मानसिक रोगों के बारे में एक संचार–न्यूनता प्रदान करता है। नैदानिक वर्गीकरण के द्वारा मनोरोगों के बारे में कम शब्दों में ठीक ढंग से संचार किया जाना संभव होता है। उदाहरण के लिये मान लिया जाये कि एक व्यक्ति में अनेक तरह के लक्षण दिखायी देते है। जैसे– अपने विचारों को ठीक ढंग से अभिव्यक्त न कर पाना, कार्य में मन न लगना, तनावग्रस्त महसूस करना, दृष्टि विभ्रम होना, ऐसा अनुभव होना कि लोग उससे हमेशा कुछ ना कुछ लेने की कोशिश करते है। अतः मनश्चिकित्सक इन सभी लक्षणों को एक नाम देकर इसका निदान कर सकते हैं–व्यामोही मनोविदालिता। अतः नैदानिक वर्गीकरण कर देने से इन सभी लक्षणों को अलग–अलग याद रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, वरन व्यामोही मनोविदालिता, इतना कह देने भर से ही उपरोक्त सभी लक्षणों का समावेश इसके अन्तर्गत हो जाता है।
2. **निदान पर उपचार की प्रक्रिया निर्भर करती है–** किसी रोग के उपचार की दृष्टि से भी निदान का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि सही उपचार सही निदान पर ही निर्भर करता है। मनोरोगों के उपचार के लिये अनेक उपचार विधियाँ प्रचलित है, किन्तु किस रोग के उपचार के लिये कौन सी विधि अपनायी जाये, यह रोग के सही निदान पर निर्भर है।
3. **निदान से रोग के कारण समझने में सहायता मिलती है**– मनश्चिकित्सकों का मत है कि निदान रोगों के कारणों को समझने में भी सहायक है।
4. निदान से वैज्ञानिक अनुसंधान में सहायता मिलती है– वैज्ञानिक अनुसंधान की दृष्टि से भी नैदानिक वर्गीकरण का अत्यधिक महत्व है। निदान द्वारा विभिन्न मनोरोगों के बारे में अनेक प्रकार के शोध किये जा सकते है।
5. **निदान तीसरे पार्टी के भुगतान करने में मदद करता है**– प्रायः ऐसा भी होता है कि मनोरोगों के उपचार में होने वाले व्यय का आंशिक या पूरा वहन बीमा कम्पनी अथवा मेडिकल संस्थान करते हैं। यह बात भारत की तुलना में विदेशों में अधिक देखने को मिलती है। ऐसी स्थिति में इन बीमा कंपनियों और मेडिकल संस्थानों को रोग के निदान के बारे में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है, जिससे वे पता लगा सकें कि पीड़ित व्यक्ति को क्या सचमुच में देखभाल की आवश्कयता है और इसके साथ–साथ उपचार की गुणवत्ता की जाँच के लिये भी निदान के बारे में जानना आवश्यक हो जाता है।

पाठकों, उपर्युक्त विवेचन से आप मनोरोगों के नैदानिक वर्गीकरण के महत्व को भली–भाँति जान गये होंगे।

असामान्य व्यवहारों के नैदानिक वर्गीकरण हेतु मनश्चिकित्सकों के द्वारा जो प्रयास किये गये हैं, उन्हें निम्न दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

A अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण तंत्र (International classification system)

B भारतीय वर्गीकरण तंत्र (Indian classification system)

अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण तंत्र– प्रिय विद्यार्थियों, असामान्य व्यवहारों के वर्गीकरण का प्रयास कोई नया नहीं है। कुसमायोजी व्यवहारों के नैदानिक वर्गीकरण हेतु मनश्चिकित्सकों द्वारा काफी प्राचीन समय से प्रयास किये जा रहे है, जिसका उल्लेख ग्रीक, रोमन एवं मिश्र के लोगों द्वारा प्रदत्त व्याख्याओं में स्वप्न रूप से देखने को मिलता है, किन्तु आधुनिक वर्गीकरण तंत्र पर उनका ज्यादा प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है। वास्तव में देखा जाये तो असामान्य व्यवहारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण तंत्र की ओर ध्यान 19वीं सदी में गया, जब अमेरिका एवं यूरोप के अनेक देशों में मनोरोगों के उपचार हेतु मानसिक अस्पताल खोलने की दिशा में अनेक सराहनीय, सार्थक प्रयास किये गये। सन् 1889 में पेरिस में ''काग्रेस ऑफ मेन्टल साइंस'' द्वारा एक एकाकी वर्गीकरण तंत्र का प्रतिपादन किया गया, किन्तु अनेक कारण ऐसे रहे, जिनकी वजह से इनका उपयोग बहुत ज्यादा लोकप्रिय नहीं हो सका। सन् 1882 में ग्रेट ब्रिटेन में ''स्टेटीस्टीकल कमेटी ऑफ दी रायल मेडिको साइकोलोजिकल एशोसियेशन'' द्वारा असामान्य व्यवहारों के वर्गीकरण का एक तंत्र प्रदिपादित किया गया। बाद में तीन बार इसका संशोधन भी किया गया, किन्तु यह वर्गीकरण तंत्र भी ज्यादा उपयोगी तथा प्रभावी सिद्ध नहीं हो सका। सन् 1886 में अमेरिका में ''एशोसिएशन फॉर मेडिकल सुपरीन्डिन्टेस ऑफ अमेरिकन इन्स्टीट्यूशन फॉर दी इनसेन'' द्वारा ब्रिटिश तंत्र के उक्त संशोधित प्रारूप को स्वीकार किया गया। इस एशोसिएशन को आध के **अमेरिकन मश्चिकित्सीय संघ** (American psychiatric Association) का अग्रदूत माना जाता है। सन् 1913 में इसी एशोसिएशन ने **इमिल क्रेपलिन** के विचारों को शामिल करते हुये एक नये वर्गीकरण तंत्र को स्वीकृति दी। पाठकों, जर्मन मनश्चिकित्सक इमिल क्रेपलिन को श्रेणीबद्ध वर्गीकरण तंत्र का जनक माना जाता है जिन्होंने मनोविक्षिप्ति के दो भेद बताये– 1. डिमेन्सिया प्रोकाफक्स तथा 2. उत्साही विषादी मनोविक्षिप्ति डिमेन्सिया प्राकोक्स को आजकल **मनोविदालिता** (सिजोफ्रेनिया) के नाम से जाना जाता है, किन्तु फिर भी क्रेपलिन के प्रयासों के परिणामस्वरूप कोई ऐसा वर्गीकरण तंत्र नहीं बन पाया, जिसको सभी ने स्वीकार किया है, लेकिन आधुनिक वर्गीकरण तंत्र पर क्रेपलिन का प्रभाव आज भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है।

पाठको, इसके उपरांत द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक बाद अन्तर्रास्ट्रीय स्तर पर दी प्रमुख वर्गीकरण तंत्रों का प्रादुर्भाव हुआ। सन् 1948 में **विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा इंटरनेशनल स्टेटीस्टीकल** क्लासिफिकेशन ऑफ डिजेज, इनजुरिज एण्ड **कॉजेज ऑफ डेथ** (International statistical classification of Disyases, injuries and causes of death of ICD) के छठवे संस्करण का प्रकाशन किया गया। इसकी मान्यता ब्रिटेन के साथ–साथ विश्व के अन्य देशों में भी अत्यधिक रहीं। इस वर्गीकरण तंत्र को प्रकाशित करने में अमेरिकन मनश्चिकित्सकों की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण रही। इसके बाद सन् 1952 में अमेरिकन मनश्चिकित्सक संघ ने एक अधिक प्रभावशाली वर्गीकरण तंत्र का प्रकाशन किया। इसे **''डायग्नोस्टिक एण्ड स्टेटी स्टिकल मैन्युअल ऑफ मेन्टल डिसऑर्डर–1** (Diagnostic and statistical manual of mental disorder-1 or DSM-1) नाम दिया गया। DSM-1 में कुछ खामियाँ रह गई, जिसके कारण इसका संशोधन किया गया। इसका संशोधित प्रारूप 1968 में प्रकाशित हुआ इसे DSM-II कहा गया। सन् 1960 वाले दशक में अनेक मनश्चिकित्सकों द्वारा DSM-II में दिये गये वर्गीकरण की व्यापक स्तर पर आलोचना की गई। **स्पिटजर एवं फिलिस्स** के मतानुसार इस वर्गीकरण में संगतता का अभाव था। इसके साथ ही DSM-II में दी गयी विभिन्न नैदानिक श्रेणियों को लेकर मनश्चिकित्सकों ने अर्थान्तर पाया। अतः सन् 1980 में DSM-II का पुनः संशोधन कर DSM-III का प्रकाशन किया गया। सन् 1979 में ICD के नवें संस्करण का प्रकाशन भी किया गया। इसे ICD-9 नाम दिया गया। DSM-III एवं ICD-

9 इन दोनों वर्गीकरण तंत्रों में संगतता को बनाये रखने के लिये अमेरिकन मनश्चिकित्सकों द्वारा अनेक प्रयास किये गये, लेकिन फिर भी इनमें कुछ अन्तर रह ही गये। DSM-III में पुनः कुछ संशोधन करके सन् 1987 में इसके संशोधित प्रारूप का प्रकाशन किया गया। इस संशोधित प्रारूप को DSM-IIIR (Revised) नाम दिया गया। सन् 1994 में DSM-IV का प्रकाशन हुआ, जो DSM-III R का संशोधित प्रारूप था। सन् 2000 में पुनः DSM-IV के मूलपाठ (Teret) में कुछ आवश्यक संशोधन किये गये। इसे **DSM-IVTR** (Teret Revision) कहा गया। पाठकों, DSM-IVTR की प्रमुख विशेषता यह है की इसके अन्तर्गत DSM-IV द्वारा प्रस्तावित मनोरोगों की श्रेणियों में कोई परिवर्तन नहीं किये गये अपितु इन श्रेणियों में नयी मूल–पाठय् सामग्रियों (Teset Materials) को जोड़ा गया। पाठकों, DSM-IVTR में लगभग 250 मनोरोगों के अनेक प्रकारों का वर्णन किया गया है। सन् 1993 में ICD-9 का संशोधित प्रारूप प्रकाशित हुआ। इसे ICD-10 नाम दिया गया। **केन्डेल, 1991** के मतानुसार DSM-IV तथा ICD-10 में मानसिक रोगों के प्रकाशित वर्गीकरण कई दृष्टिकोणों से लगभग एक समान है। इन दोनों वर्गीकरण तंत्रों की विभिन्न श्रेणियों में यथासंभव संगतता बनाये रखने का भरसक प्रयास किया गया है। प्रिय विद्यार्थियों, हम यहाँ DSM-IVTR में किये गये मनोरोगों के वर्गीकरण का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

SDM-IVTR वर्गीकरण –

प्रिय विद्यार्थियों, DSM-IVRE मनोरोगों के नैदानिक वर्गीकरण का एक अत्यन्त वैज्ञानिक तंत्र है। इसकी उपयोगिता को बताते हुये **शेलिगमैन एवं रोजेनहान** ने कहा है, ''किसी भी हालत में DSM-IVTR आने वाले दशकों में नैदानिक बाइबिल के रूप में बना रहेगा।'' DSM-IVTR में मनोरोगों के वर्गीक्रण के लिये एक बहुआयामी वर्गीकरण तंत्र को अपनाया गया है, जो DSM-III-R से काफी मिलता–जुलता है। DSM-IV-TR में कुल पाँच आयाम है। इनमें से दो आयामों में अनेक प्रकार के मनोरोगों का वर्गीकरण किया गया है तथा शेष तीन आयामों में रोग एवं रोगी से संबंधित अन्य संगत सूचनाओं को जुटाने का प्रयास किया जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि मनोरोगों के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझने में रोग के लक्षणों के अतिरिक्त अन्य सूचनाओं को भी महत्व दिया जाना चाहिये।

DSM-IVTR में मनोरोगों को एक ऐसे मनोवैज्ञानिक अथवा व्यवहारपरक पैटर्न के रूप में परिभाषित किया गया है, जिसके कारण व्यक्ति में दुःख या तकलीफ या तनाव (Distrees) उत्पन्न हो अथवा जो व्यक्ति को एक या एक से अधिक कार्यक्षेत्रों में अयोग्य बना दिया हो। अतः किसी स्थिति को मनोरोग का नाम केवल तभी दिया जा सकता है, जब उसके कारण व्यक्ति में वास्तविक दुष्क्रिया उत्पन्न हो न केवल व्यक्ति एवं समाज के मध्य केवल क्षुब्धता उत्पन्न हुयी हो। उदाहरण के तौर पर DSM-IVTR के अनुसार सामाजिक विचलन (Social deviance) अपने आप में कोई मानसिक रोग नहीं है, इसके कारण व्यक्ति में कोई वास्तविक दुष्क्रिया उत्पन्न नहीं होती है, व्यक्ति एवं समाज के बीच केवल क्षुब्धता (Disturbance) उत्पन्न होती है।

पाठकों, DSM-IVTR के पाँचों आयामों का विस्तृत विवेचन निम्नानुसार है–

A आयाम–I: नैदानिक संलक्षण (Axis-I : Clinical syndromes)

B आयाम – II: व्यक्तित्व विकृतियाँ तथा मानसिक मंदता (Axis-II : Parsonality disorders and mental retardation)

C आयाम–III : सामान्य चिकित्सीय अवस्था (Axis-III : General medical conditions)

D आयाम– IV : मनोसामाजिक एवं पर्यावरणी समस्यायें (Axis-IV : Psychosocial and envilonmental problems)

E आयाम–V : कार्यो का सम्पूर्ण मूल्यांकन (Axis V : Global assessment of functioning)

आयाम–1 नैदानिक संलक्षण–

आयाम प्रथम में 16 मानसिक रोगों को रखा गया है, जिनमें दुश्चिता विकृतियाँ, मनोविदालिता, प्रमुख विषाद, द्विध्रुवीय मनःस्थिति विकृतियाँ आदि प्रमुख हैं। इस आयाम के अन्तर्गत ऐसी अवस्थायें भी रखी गई हैं जो मनोरोग की श्रेणी में तो नहीं आती हैं, किन्तु उनके लिये व्यक्ति को उपचार की आवश्यकता होती है। इसके अन्तर्गत व्यवसाय, स्कूल एवं वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित समस्याओं को भी रखा गया है।

आयाम–2 : व्यक्तित्व विकृतियाँ एवं मानसिक मंदता–

दूसरे आयाम में ऐसे मनोरोगों को रखा गया है, जिनका प्रारंभ बाल्यावस्था या किशोरावस्था में होता है तथा जो वयस्कावस्था में स्थायी रूप ले लेते हैं। इसके अन्तर्गत दस प्रकार की व्यक्तित्व विकृतियों एवं मानसिक मंदता को रखा गया है। मनश्चिकित्सकों द्वारा प्रायः ऐसे मनोरोगों की उपेक्षा कर दी जाती थी। अतः DSM-IVTR में इन्हें एक अलग आयाम में स्थान दिया गया है, जिससे कि किसी भी प्रकार से इनकी अपेक्षा न हो सके।

आयाम–3 : सामान्य चिकित्सीय अवस्था

इसमें उन सभी चिकित्सकीय समस्याओं को रखा गया है, जो मनोरोग उत्पन्न करने में सहायक हो सकती हैं।

आयाम–4 मनोसामाजिक एवं पर्यावरणी समस्यायें

इस आयाम में ऐसे मनो सामाजिक एवं पर्यावरणी कारकों को रखा गया है जो मनोरोगों के निदान एवं उपचार को प्रभावित कर सकते हैं।

आयाम–5 कार्यों का सम्पूर्ण मूल्यांकन

इस आयाम के अन्तर्गत व्यक्ति के समायोजी कार्यों के स्तर का मापन किया जाता है। इसमें प्रमुख रूप से तीन कारकों पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जाता है। प्रथम, परिवार तथा मित्रों के साथ सामाजिक सम्बन्ध द्वितीय पेशेवर कार्यवाही एवं तृतीय, खाली समय का उपयोग। इस आयाम में इन तीनों कारकों का मापन एक 100–बिन्दु मापनी पर किया जाता है, जिसमें 1 अत्यधिक निम्न एवं 100 अत्यधिक उच्च को इंगित करता है।

पाठकों, उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि DSM-IVTR के प्रथम दो आयामों में मनोरोगों का वर्गीकरण किया गया है तथा अंतिम तीन आयामों द्वारा रोग के वास्तविक लक्षणों के अतिरिक्त रोग एवं रोगी से संगत अन्य सूचनाओं को प्राप्त करने की कोशिश की जाती है, जिससे कि रोग के स्वरूप को ज्यादा अच्छे ढंग से समझा जा सके और उसके आधार पर एक अधिक कारगर उपचार पद्धति को अपनाया जा सके।

DSM-IVRT के प्रथम एवं द्वितीय आयाम में कुल मिलाकर लगभग 250 प्रकार के मनोरोगों का विवेचन किया गया है, जिन्हें 18 शीर्षकों में वर्गीकृत किया गया है। प्रथम आयाम में 16 तथा द्वितीय आयाम में 2 मनोरोगों की श्रेणियों को रखा गया है। इनका विस्तारपूर्वक विवेचन निम्नानुसार है–

आयाम–1 के अन्तर्गत रखे गये प्रमुख मनोरोग निम्न हैं–

1. दुश्चिंता विकृतियाँ (Ansiety disorders)
2. मनोविच्छेदी विकृतियाँ (Dissociative disorders)
3. कायप्रारूप विकृतियाँ (Somatoform disorders)
4. मनोविदालिता एवं अन्य मनोविक्षिप्तविकृतियाँ(Schizophrenia and other psychotic disorders)
5. मनस्थिति विकृतियाँ (Mood disorders)
6. लैंगिक एवं लिंग पहचान विकृतियाँ(Sexual and gender identity disorders)
7. नींद विकृतियाँ (Sleep Disorders)
8. भक्षण विकृतियाँ (Eating Disorders)
9. कृत्रिम या नकली विकृतियाँ (Factitious disorders)
10. समायोजन विकृतियाँ (Adjustment disorders)

11. आवेग नियंत्रण विकृतियाँ (Impulse control disorders)
12. द्रव्यसम्बद्ध विकृतियाँ (Sulistance related disorders)
13. वैसी विकृतियाँ जो सबसे पहले शैशवावस्था बाल्यावस्था या किशोरावस्था में लक्षित होती है।(Disorders isually first diagnosed in infancy, childhod or adolescence)
14. डिलिश्यिम, डिमेन्श्या, एमनेस्टिक एवं अन्य संज्ञानात्मक विकृतियाँ (Delis... Dementia, Amnestic and other cagnitive disorders)
15. सामान्य मेडिकल अवस्थाओं के कारण उत्पन्न मानसिक विकृति (Mental disorders due to general medical condition)
16. अन्य ऐसी अवस्थायें जिन पर नैदानिक ध्यान दिया जा सकता है (Other conditions that may be a focus of clinical attention)

इन सभी मनोरोगों का विस्तृत विवेचन निम्नानुसार है–

1. **दुश्चिंता विकृतियाँ–** इस वर्ग में उन मनोरोगों को रखा गया है, जिसमें किसी न किसी प्रकार की दुश्चिंता के कारण ही क्षुब्धता उत्पन्न होती है। इसमें दुर्भीति, विभिषिका विकृति, सामान्यीकृत दुश्चिंता विकृति, मनोग्रस्ति बाध्यताविकृति, उत्तरअभिघातज प्रतिबल विकृति एवं तीव्र प्रतिबल विकृतियाँ प्रमुख है।

2. **मनोविच्छेदी विकृतियाँ–** इसके अन्तर्गत वे मानसिक रोग आते हैं, जिनका प्रमुख लक्षण मनोवैज्ञानिक विच्छेदन होता है। इसके कारण व्यक्ति के चेतन मन में अकस्मात् परिवर्तन आने लगते हैं तथा उसकी स्मृति और पहचान प्रभावित होने लगती है। इसके तहत मनोविच्छेदी स्मृतिलोप, मनोविच्छेदी आत्मविस्तृत, बहुव्यक्तित्व अथवा मनोविच्छेदी पहचान विकृति एवं व्यक्तित्व लोप विकृति को रखा गया है।

3. **कायप्रारूप विकृतियाँ–** इस श्रेणी ऐसे मानसिक रोग आते हैं जिनके दैहिक लक्षणों का कारण जौविक या शारीरिक न होकर मानसिक होता है। इसमें रूपान्तर हिस्टीरिया, दर्दविकृति, रोगभ्रम, शारीरिक डायसमौर्फिक मनोरोगों को रखा गया है।

4. **मनोविदालिता तथा अन्य मनोविक्षिप्त विकृतियाँ–** इस श्रेणी में मनोविदालिता, स्थिर–व्यामोही विकृति, लघु मनोविक्षिप्त विकृति को रखा गया है।

5. **मनः स्थिति विकृतियाँ–** इस श्रेणी में ऐसे मनोरोगों को शामिल किया गया है जो व्यक्ति की मनः स्थिति में उतार–चढ़ाव से संबंधित होते हैं। इसमें एक ध्रुवीय विकृति एवं द्विध्रुवीय विकृति को रखा गया है। एक ध्रुवीय विकार में रोगी में केवल अवसाद के लक्षण दिखायी देते है, जबकि द्विध्रुवीय विकृति में रोगी में विषादी एवं उन्मादी दोनों तरक के लक्षण देखने को मिलते हैं।

6. **लैंगिक एवं लिंग पहचान विकृतियाँ–** इस श्रेणी में यौन तथा लिंग पहचान से सम्बद्ध तीन प्रकार के मनोरोगों को रखा गया है। ये हैं पाराफिलिथाज, लैंगिक दुष्क्रिया एवं लिंग पहचान विकृति।

7. **नींद विकृतियाँ –** इसमें नींद से संबंधित दो प्रमुख विकृतियों को रखा गया है। ये दो विकृतियाँ हैं– (1) डायसोमनियाज तथा (2) पारासोमनियाज।

8. **भक्षण विकृतियाँ–** इस श्रेणी में खाने की आदत से सम्बन्धित दो विकृतियों को प्रमुख रूप से रखा गया है। इनमें से पहली है–एनोरिक्सया नरवोसा एवं दूसरी हैं–बुलिमिया नरवोसा।

9. **कृत्रिम या नकली विकृतियाँ–** इस श्रेणी में ऐसे लोगों को रखा गया है, जो वास्तव में मनोरोगी नहीं होते हैं, किन्तु वे ऐसे असामान्य दैहिक अथवा मानसिक लक्षण दिखाते है, जिससे कि लोग उन्हें मनोरोगी समझकर उन पर विशेष रूप से ध्यान दें उनकी पर्याप्त देखभाल करें।

10. **समायोजन विकृतियाँ–** इसके अन्तर्गत ऐसे मनोरोगों को शामिल किया गया है। जिसमें जीवन के वृहत प्रतिबल (Majar stressors) से व्यक्ति में संवेगात्मक एवं व्यवहारात्मक लक्षण विकसित हो जाते है।

11. **आवेग नियंत्रण विकृतियाँ–** इस श्रेणी में ऐसे मनोरोगों आते हैं, जिनमें व्यक्ति का व्यवहार अनुपयुक्त होने के साथ–साथ स्वयं के नियंत्रण से भी बाहर हो जाता है। जैसे–आन्तरायिक विस्फोटक विकृतियाँ, चोर्यीन्माद, अग्निोन्माद तथा रोगात्मक जुआ।

12. **द्रव्यसम्बद्ध विकृतियाँ–** इस वर्ग में ऐसे लोगों को रखा गया है, जिनमें विभिन्न प्रकार के द्रव्य पदार्थों जैसे– अल्कोहल, अफीम, कोकेन, एम्फीटामाइन्स इत्यादि इतना अधिक खाने की बुरी आदत विकसित कर लेते हैं कि इसके कारण उनका सामाजिक समायोजन अथवा व्यावसायिक कार्यों में अत्यधिक असंतुलन पैदा हो जाता है।

13. वैसी विकृतियाँ जो सबसे पहले शैशवावस्था, बाल्यावस्था या किशोरावस्था में लक्षित होती हैं– इसके तहत ऐसे विकारों को रखा गया है, जिनके लक्षण सबसे पहले शैशवावस्था या बाल्यावस्था अथवा किशोरावस्था में दिखायी देते हैं तथा उनकी समायोजन क्षमता को बुरी तरह से प्रभावित कर देते है। इसके अन्तर्गत अलगाव चिन्ता विकृतियाँ, अधिगम विकृतियाँ, संचार विकृतियाँ, मल–मूत्र त्यागने से सम्बद्ध विकृतियाँ, ध्यान–ह्रास विकृतियाँ, शैशव आत्मविमोह आदि प्रधान है।

14. **डिलिरियम, डिमेन्सिया, एमनेस्टिक तथा अन्य संज्ञानात्मक विकृतियाँ–** इसके अन्तर्गत ऐसे मनोरोग आते है, जो व्यक्ति के संज्ञानात्मक कार्यों में दोष उत्पन्न होने के कारण होते हैं। प्रायः ऐसे रोगों के कारणों में द्रव्य दुरूपयोग, शारीरिक रोग, आघात एवं उम्र सम्बद्ध कमजोरी इत्यादि आते हैं।

15. **सामान्य मेडिकल अवस्थाओं के कारण उत्पन्न मानसिक विकृति**– इस श्रेणी में ऐसे मनोविकारों को रखा गया है, जिनकी उत्पत्ति का कारण सामान्य मेडिकल अवस्थायें होती हैं।

16. **अन्य ऐसी अवस्थायें जिन पर नैदानिक ध्यान दिया जा सकता है–** पाठकों, इस श्रेणी में मनश्चिकित्सकों के उन सभी अवस्थाओं को रखा है, जो किसी मनोरोग होने की कसौटी पर तो पूरी तरह खरा नहीं उतरते हैं, किन्तु फिर भी वे व्यक्ति के लिये परेशानी का कारण बनते है। इसमें अन्तर्वैयक्तिक संघर्ष, शैक्षिक एवं व्यावसायिक समस्यायें आदि को रखा गया है। ये एसी अवस्थायें हैं, जो व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को अत्यधिक प्रभावित करती है।

पाठकों, उपरोक्त विवरण में हमने DSM-IVTR के प्रथम आयाम में वर्णित मनोरोगों के बारे में जाना। अब हम द्वितीय आयाम में उल्लिखित मनोरोगों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। आयाम–II में दो प्रकार के मनोरोगों को प्रमुख स्थान दिया गया है, जो निम्नानुसार हैं–

i- व्यक्तित्व विकृतियाँ (Personality Disorders)

ii- मानसिक मंदता (Mental Retardation)

i- **व्यक्तित्व विकृतियाँ–** आयाम–II में 10 प्रकार की व्यक्तित्व विकृतियों को रखा गया है। ये निम्न हैं–

(1) स्थिर व्यामोही व्यक्तित्व विकृति (Paraniod personality disorder)

(2) स्किजोआयड व्यक्तित्व विकृति (Schizoid personality disorder)

(3) स्किजोटाइपल व्यक्तित्व विकृति (Schizotypal personality disorder)

(4) हिस्ट्रीओनिक व्यक्तित्व विकृति (Histrionic personality disorder)

(5) आत्ममोही व्यक्तित्व विकृति (Narcissistic personality disorder)

(6) समाज विरोधी व्यक्तित्व विकृति (Antisocial Personality disorder)

(7) सीमान्तरेखीय व्यक्तित्व विकृति (Boarderline personality disorder)

(8) परिवर्जित व्यक्तित्व विकृति (Avoident personality disorder)

(9) अवलम्बित व्यक्तित्व विकृति (Dependent personality disorder)

(10) मनोग्रस्ति–बाध्यता व्यक्तित्व विकृति (Obsessive-compulsive personality disorder)

DSM-III-R में 12 प्रकार के व्यक्तित्व विकारों का उल्लेख किया गया था, किन्तु DSM-IVTR में इनकी संख्या 10 कर दी गई।

(2) **मानसिक मंदता–** इस श्रेणी में उन बच्चों को रखा गया है, जिनका बौद्धिक स्तर औसत से कम होता है। जिनमें समायोजी व्यवहार का अभाव होता है और जिसके लक्षण 18 वर्ष की आयु

से पहले ही दिखायी देने लगते हैं। पाठकों, मानसिक मंदता को DSM-III-R में भी रखा गया था। DSM-IV-TR में इसका स्वरूप और अधिक स्पष्ट कर दिया गया।

प्रिय पाठकों, उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि DSM-IVTR में मनोरोगों को कुल 18 नैदानिक श्रेणियों में बाँटा गया है। इस नैदानिक वर्गीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक मानसिक रोग के निदान के लिये कुछ कसौटियों का निर्धारण किया गया है। इस कसौटी को नैदानिक कसौटी (Diagnostic criteria) का नाम दिया गया है। क्वैड.प्प और क्वैड.प्प्त के समान ही क्वैड.प्टज्त में भी वर्गीकरण के पोलोथेटिक उपागम को स्वीकार किया गया है। इस उपागम के अनुसार किसी व्रूक्ति को केवल तभी मानसिक रोगी कहा जा सकता है, तब उस व्यक्ति में संभाविक कसौटी लक्षणों की सूची में ऐ एक निश्चित संख्या में कुछ लक्षण विद्यमान हो।

DSM-IVTR का मूल्यांकन–

यद्यपि DSM-IVTR मनोरोगों के नैदानिक वर्गीकरण का एक अत्यन्त वैज्ञानिक एवं लोकप्रिय तंत्र है, तथापि कुछ नैदानिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा निम्न आधारों पर इसकी आलोचना की गई है–

1. आलोचकों का मत है कि DSM-IVTR में मनोरोगों की जितनी श्रेणियाँ बतायी गयी है, उनमें मानसिक रोगों का केवल वर्णन किया गया है, उनकी व्याख्या नहीं की गई है। कहने का आशय यह है कि रोग क्या है और उसके लक्षण क्या हैं, इसका विवेचन तो किया गया है, किन्तु कोई रोग किस तरह से उत्पन्न या विकसित होता है, इसको स्पष्ट नहीं किया गया है।
2. DSM-IVTR की दूसरी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसके द्वारा केवल वैयक्तिक व्यवहार के बारे में विवेचन किया जाता है।
3. आलोचकों का यह भी मत है कि इस वर्गीकरण में मनोरोगों के बारे में नैदानिक निर्णय लेने के लिये जो नियम निर्धारित किये गये हैं, वे आदर्श नहीं है। उदाहरण के तौर पर उन्माद रोग के निदान हेतु DSM-IVTR में 7 लक्षणों की एक सूची बनायी गयी है, जिसमें से रोगी में कम से कम तीन लक्षणों का होना उन्माद के रूप में वर्गीकृत किये जाने के लिये आवश्यक है। किन्तु किस आधार पर यह संख्या तीन निर्धारित की गई है, इसका कोई स्पष्ट विवरण नहीं दिया गया है। ऐसी ही बात अन्य मनोरोगों के निदान के संबंध में भी लागू होती है, जो आलोचकों के मतानुसार वैज्ञानिक नहीं है।
4. आलोचकों ने DSM-IVTR की विश्वसनीयता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया है उनका मत है कि DSM-IVTR के प्रथम एवं द्वितीय आयाम की विश्वसनीयता प्रतिदिन के उपयोग में हमेशा ही संतोषजनक परिणाम नहीं देती है,क्योंकि प्रत्येक मनोरोग के लिये बनी नैदानिक कसौटी की उपयुक्तता की जाँच करने में मनौचिकित्सक अपने आत्मगत मूल्यांकन से प्रेरित होते हैं।

प्रिय पाठकों, उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि DSM-IVTR में भी कुछ त्रुटियां है, जिनके कारण आलोचकों द्वारा इसकी आलोचना की गई है, तथापि इसकी उपयोगिता एवं महत्व को नकारा नहीं जा सकता। वर्तमान समय में विश्व के प्रायः सभी देशों में मनोरोगों के नैदानिक वर्गीकरण हेतु DSM-IVTR का सहारा लिया जाता है।

भारतीय वर्गीकरण तंत्र–

प्रिय विद्यार्थियों, अब तक हमने मनोरोगों के अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण तंत्र (DSM-IVTR) का अध्ययन किया है। अब हम मनोरोगों के भारतीय वर्गीकरण तंत्र के बारे में चर्चा करेंगे। पाठकें मनोरागों के भारतीय वर्गीकरण तंत्र में निम्न दो प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं–

A. भारत के अधिकांश मानसिक अस्पतालों तथा उपचारगृहों में ICD एवं DSM द्वारा प्रतिपादित वर्गीकरण को या तो पूरी तरह अपना लिया गया है, अथवा उसमें आंशिक संशोधन करके उन्हें अपनाया जा रहा है।

B. कतिपय भारतीय मनोवैज्ञानिकों एवं मनश्चिकित्सकों ने इन तंत्रों को पूरी तरह संतुष्ट न होने के कारण इनमें कुछ संशोधन के सुझाव दिये हैं, जिनमें एन. एन. विग तथा एम. सक्सेना, ए. वर्घीज एवं

आर. गियल और उनके सहयोगियों के नाम उल्लेखनीय है। कतिपय भारतीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय साहित्य में उपयुक्त विकल्पी मॉडल की खोज करके उसका संबंध आधुनिक तंत्र प्रमुख रूप से ICD से स्थापित करने का प्रयास किया है, जिनमें के. सी. दूबे, एस. दूबे और एच. जी. सिंह के नाम प्रमुख हैं। प्रमुख विद्वान एच. जी. सिंह ने मनोरोगों को निम्न तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया है–

1. **गंभीर विकृतियाँ– (Severe Disorders)** इस श्रेणी मे निम्न रोगों को रखा गया है–

i- उन्माद (Insonity)
ii- मिरगी या अपस्पार (Epilepsy)
iii- ग्राही (Seizure ar hysterial fits)
iv- दुर्भीति (Phobia)
v- मनोविदालिता (Schizophrenia)
vi- पाप–भाव तथा हीनता भाव (Guit feeling and in feriality feeling)

2. **साधारण रोग (Mild disorders)**

साधारण रोग में निम्न रोगों को रखा गया है–

i- क्रोध (Anger)
ii- ईर्ष्या (Jealousy)
iii- मोह (Eraticism)
iv- दुःस्वप्न (Evildream)
v- बाह्य श्राप (Compulsive evil suggestion)

3. **स्वास्थ्य एवं संगठन (Healty and integration)**

इस श्रेणी में निम्नांकित रोगों को स्थान दिया गया है–

i- बुद्धि तथा स्मृति वर्द्धन (Inteligence and memory imptovement)
ii- पुस्तिकानी (Pustikani) या अहं उर्जन् (Ego energing)
iii- सामांसा सस्यानी (Samansa sasyani)

प्रिय पाठकों, एन. एन. विग तथा जी. सिंह द्वारा मनोविक्षिप्त के निम्न प्रकार बताये गये हैं–

i- मनोविक्षिप्ति विषादी प्रतिक्रिया (psychtic depressive reaction)
ii- हिस्ट्रकल मनोविक्षिप्ति (Hysterical psychosis)
iii- अज्ञात कारणों से उत्पन्न मनोविक्षिप्ति जिसमें संभ्रांतीय छवि की प्रधानता होती है।(psychoses of unknown etiology with predominantly confusional picture)
iv- अज्ञात कारणों से उत्पन्न मनोविक्षिप्ति जिसमें व्यामोही विभ्रात्मक तस्वीर की प्रधानता होती है।(psychosis of uncertain etiology with paranoid hallucinatory symptom)
v- उपज्ञात कारणों से उत्पन्न मनोविक्षिप्ति, जिसमें मनोविदाली भावात्मक लक्षणों की प्रधानता होती है।(psychosis of uncertain etiology with schizophvenic affective symptom)
vi- चिरकालिक मनोविक्षिप्ति–अभावात्मक एवं अमनोविदाली (Chronic psychosis-non-affective non-schizophuenic)

प्रिय विद्यार्थियों, जे. एम. तेजा ने विभिन्न प्रकार की मनोविक्षिप्तियों को निम्न पाँच श्रेणियों में वर्गीकृत किया है–

1. **अज्ञात कारणों से उत्पन्न अन्य मनोविक्षिप्ति**

i- प्रतिक्रियाशील विषादी मनोविक्षिप्ति (Reactive depressive psychoses)

ii- प्रतिक्रियाशील हिस्ट्रीकल मनोविक्षिप्ति (Reactive hysterical psychoses)

iii- तीव्र हिस्ट्रीकल मनोविक्षिप्ति (Acute hysterical psychoses)

iv- हिस्ट्रीकल स्वत्वात्मक अवस्था (Hysterical possessive states)

2. **प्रतिक्रियाशील संभ्राति** (Reactive confusion)
3. **तीक्ष्ण व्यामोही प्रतिक्रिया** (Acute paranoid reactions)
4. **प्रतिक्रियाशील मनोविक्षिप्ति** (Reactive psychosis)
5. **अविशिष्ट मनोविक्षिप्ति** (Unspecified psychosis)

इसी प्रकार कुछ भारतीय मनोवैज्ञानिकों एवं मनशिचिकित्सकों द्वारा विषादी स्नायु विकृतियों को दो ाागों में वर्गीकृत किया गया है–

i- स्नायुविकृति विषादी

ii- प्रतिक्रियावादी विषादी

प्रिय पाठकों, उपरोक्त विवरण के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि असामान्य व्यवहारों के नैदानिक वर्गीकरण के अब तक जितने भी तंत्र विकसित हुये हैं, उनमें DSM-IVTR की मान्यता सर्वाधिक है।

अभ्यासार्थ प्रश्न–

1. मनोरोगों की उत्पत्ति में केवल जैविक कारकों का योगदान होता है। (सत्य / असत्य)
2. फोबिया चिन्ता विकार के अन्तर्गत आता है। (सत्य / असत्य)
3. ICD-10 का प्रकाशन सन् 1990 में हुआ था। (सत्य / असत्य)
4. DSM-I का प्रकाशन सन् 1952 में हुआ था। (सत्य / असत्य)
5. DSM-IVTR का प्रकाशन सन् 2000 में हुआ था। (सत्य / असत्य)
6. DSM-IVTR में कुल छः आयाम है। (सत्य / असत्य)
7. DSM-IVTR के प्रथम आयाम में व्यक्तित्व विकार का वर्णन किया गया है। (सत्य / असत्य)
8. सन् 1948 में WHO ने ICD-6 का प्रकाशन किया। (सत्य / असत्य)
9. निदान से रोग के उपचार के बारे में जानकारी मिलती है। (सत्य / असत्य)
10 मनोग्रस्ति–बाध्यता विकार, एक चिन्ता विकार है। (सत्य / असत्य)

9.6 सारांश–

प्रिय पाठकों, उपरोक्त विवरण से आप मनोरोगों के कारण, विभिन्न प्रकार तथा उनके नैदानिक वर्गीकरण के बारे में भलीभाँति जान गये होंगे। मनोरोगों की उत्पत्ति में जैविक कारकों के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। भिन्न–भिन्न लक्षणों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों और मनशिचिकित्सकों ने मनोरोगों के अनेक प्रकार बताये हैं, जिनमें चिन्ता विकृति, व्यक्तित्व विकृति, मनोदशा विकृति, स्थिर–व्यामोही विकृति आदि प्रमुख है। मानसिक रोगियों का ठीक प्रकार से उपचार हो सके, उपचार के बारे में अधिकाधिक मार्गनिर्देशन प्राप्त हो सके, इस हेतु असामान्य व्यवहारों का नैदानिक वर्गीकरण किया गया है। मनोरोगों के नैदानिक वर्गीकरण की दृष्टि से अब तक सर्वाधिक लोकप्रिय तंत्र DSM-IVTR (2000) है, जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त है।

9.7 शब्दावली

ICD & International statistical classficalion of diseases, injuries and causes of Death.

DSM-IVTR - Diagnostic and statistical manual of mental disorder-IV test revision.

भक्षण – खाना (Eating)

निदान – लक्षणों के आधार पर रोग का निर्धारण

जैविक – शरीर संबंधी

काय – शरीर

9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

(1) असत्य 2 सत्य 3 असत्य 4 सत्य 5 सत्य
6 असत्य 7 असत्य 8सत्य 9 सत्य 10 सत्य

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सिंह, अरूण कुमार (2010) असामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लोरोड, जवाहर नगर, दिल्ली।

9.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डॉ. राज राजेश्वारी प्रसाद सिन्हा एवं डॉ. बी. के. मिश्र। 1987, असामान्य मनोविज्ञान, भारती भवन, ठाकुरबाड़ी रोड, कदमकुआँ, पटना।
3. डॉ. आर. के ओझा (1991) असामान्य मनोविज्ञान, भार्गव बुक हाउस, आगरा।

9.11 निबंधात्मक प्रश्न–

प्रश्न–1– मनोरोगों के कारणों पर प्रकाश डालिये।
प्रश्न–2 मनोरोगों के प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
प्रश्न–3 असामान्य व्यवहारों के नैदानिक वर्गीकरण की विस्तार से व्याख्या कीजिए।